VĀKYAPADĪYAM
(BRAHMAKĀṆḌA)

of

SHRĪ BHARTṚHARI
The great linguist & grammarian

with trilingual commentary
by
DR. SATYAKAM VARMA
Institute For Post-Graduate (Evening) Studies
University of Delhi



MUNSHIRAM MANOHARLAL, NEW DELHI

MUNSHIRAM MANOHARLAL
Oriental Publishers
54, Rani Jhansi Road, New Delhi-55
Sales Counter 4416, Nai Sarak, Delhi-6

First Published July 1970

PRINTED AT RAISINA PRINTERY, 4 CHAMELIAN ROAD, DELHI AND
PUBLISHED BY DEVENDRA JAIN FOR MUNSHIRAM MANOHARLAL, NEW DELHI

वा क्य प दी य म्

(ब्र ह्म का ण्ड म्)

संस्कृत-आंग्ल-हिन्दी-भाषाटीकोपेतम्

पदवाक्यप्रमाणज्ञेन महावैयाकरणेन भर्तृहरिणा निबद्धम्

टीकाकार:

वाचस्पतिः सत्यकामो वर्मा

प्राध्यापको दिल्ली विश्वविद्यालये

मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली

समर्पणम्

पदवाक्यप्रमाणज्ञो यो वाग्दर्शनमाश्रितः ।
महावैयाकरणश्चापि भाष्याब्धिं त्रिपदीमकः ।।
पुरा नवं पुराणं स्यादत्र शंका भवेदपि ।
परं तस्य प्रयत्नेषु पुराणत्वं न शंकितम् ।।
यस्य प्राच्यां कृता यत्नाः प्रतीच्यामधुना गताः ।
अन्धन्तमश्च कुर्वन्ति स्वज्ञानदुर्मदात्मनाम् ।।
तस्य वेदविदो भर्तुर्यद्वाचो सारवत्तमम् ।
स्वबुद्ध्या पुनराख्याय श्रीहरये समर्प्यते ।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
त्रुटिस्वीकरणेनैव महत्त्वं सम्भवेत् क्वचित् ।।

विषय-सूची

प्रास्ताविक

पूर्वभूमिका

सन् १९६० के अपने यूरोप प्रवास में प्रथम बार प्रस्तुत लेखक को यह आभास मिला कि अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के प्राच्यविद् किस तरह भर्तृहरि के **वाक्यपदीय** के नाम से तो परिचित है, किन्तु उसके विषय में कार्य करने के सम्बन्ध में उनकी उत्सुकता पंगु भी हो जाती है। उससे बहुत पूर्व ही बनारस संस्कृत कॉलेज से और बाद में त्रिवेन्द्रम् से 'वाक्यपदीय' के प्रकाशन की नाम-मात्र प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी। इतना ही नहीं; उक्त कॉलेज, और बाद में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, की परीक्षाओं में भी उक्त वाक्यपदीय को पहले ही स्थान मिल चुका था। युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'संस्कृत व्याकरण के इतिहास' में भी इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला था। इससे भी बहुत पहले, इसी शती के पांचवें दशक में, लहौर से श्री चारुदेव शास्त्री के सम्पादकत्व में प्रथम काण्ड का एक प्रामाणिक संस्करण भी निकल चुका था। यह दुर्भाग्य है कि उन्हीं द्वारा सम्पादित द्वितीय काण्ड का अर्धमुद्रित संस्करण सजिल्द रूप में लाहौर में ही छूट गया। उसकी कदाचित् एकाध प्रति ही भारत पहुंच पाई। पर उसका लाभ स्वयं लेखक भी न उठा सका। और, वे 'काण्ड' फिर से न ही छप सके।

इस बीच डॉ० ऐय्यर के प्रयास काफी आगे बढ़ चुके थे। उन्होंने सम्पादन और टीकानुवाद का कार्य ही हाथ में लिया था। परन्तु उनका प्रथम प्रयास भी इस शती के सातवें दशक से पूर्व प्रकाश न देख सका। कुमारी बियार्दो का प्रयास बाद का है।

समालोचनात्मक प्रयास

यह तो हुई सम्पादन की बात ! एकाध हिन्दी टीका तब तक यदि लिखी भी गई, तो विद्यार्थियों की परीक्षा का ध्यान करके ही। अतः वह प्रथम काण्ड-

मात्र तक ही सीमित थी। कहीं-कहीं वाक्यपदीय के श्लोकों के उद्धरण जो मिले भी, वे नगण्य ही थे। पर, इतना निश्चय है कि छठे दशक में इस महान् उपलब्धि पर विभिन्न दिशाओं मे एक दूसरे से अज्ञात रहकर कुछ कार्य आरम्भ हो चुका था। डा० कपिलदेव द्विवेदी का 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' मूलतः वाक्यपदीय को ही आधार बनाकर चला है। परन्तु उसके बहुत से निष्कर्ष सम्भवतः बहुत जल्दी में निकाले गए है। परिणामतः, उसमें भर्तृहरि को सबसे बड़ा 'शब्दशक्तिवादी' सिद्ध कर दिया गया है, जबकि वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत है। सन् १९६१ तक ही डा० रामसुरेश त्रिपाठी का प्रबन्ध 'वाक्यपदीय में आख्याततत्त्व' पूर्ण और सम्मानित हो चुका था। अप्रकाशित होने के कारण लेखक उसे मूल रूप में ही देख पाया। डा० सत्यव्रत के कुछ लेख फुटकर रूपमें ही सामने आए थे। मद्रास के डा० कुंजुन्नी राजा और कुछ अन्य विद्वान् भी ऐसे ही यत्नों में लगे थे। परन्तु, वाक्यपदीय के समग्र रूप पर समवेत ढंग से कोई यत्न सामने न आया था।

भाषातत्त्व और वाक्यपदीय

ऐसे समय में प्रस्तुत पुस्तक के लेखक को यूरोप से मिली प्रेरणा के आधार पर वाक्यपदीय के समग्र अध्ययन में प्रवृत्त होना पड़ा था। समय-समय पर यूरोप के महामनीषियों ने तरह-तरह से लेखक को सहायता दी और उत्साह बढ़ाया। परिणामतः उसका पहला शोधप्रबन्ध 'वाक्यपदीय में भाषाशास्त्रीय सिद्धान्त' सन् १९६३ में पूरा हुआ और उसी वर्ष 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' के नाम से प्रकाशित भी हुआ। इसमें प्रथम बार वाक्यपदीय के सांगोपांग मन्थन द्वारा उसमें अन्तर्हित भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया और भर्तृहरि को 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' कहने का रहस्य समझाया गया। इसी प्रबन्ध में प्रथम बार भर्तृहरि की 'महाभाष्यत्रिपदी टीका' से भी उद्धरण दिए गए। यह क्रम निरन्तर जारी रहा। और, सन् १९६७ में लेखक का दूसरा प्रबन्ध "व्याकरण की दार्शनिक भूमिका" पूरा हुआ। इसका आधार भी वाक्यपदीय और त्रिपदी टीका पर ही था। भर्तृहरि के 'महावैयाकरण' होने का रहस्य इसे पढ़कर ही समझा जा सकता है। पर यह प्रबन्ध अभी प्रकाशन की अवस्था में है। इसके शीघ्र बाद ही वह भी प्रकाशित हो रहा है।

इस सम्बन्ध में कुमारी बियार्दो के प्रयासों की प्रशंसा न करना अपराध ही कहा जाएगा। उनका भर्तृहरि सम्बन्धी श्रम भी प्रशस्य है। स्वर्गीय लुई रेनु ने उस सम्बन्ध में प्रस्तुत लेखक को पर्याप्त पहले ही अवगत कराया था।

टीका : आवश्यकता

इस सब पूर्वभूमिका के साथ यह जानना आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तुत टीका का इस सबसे क्या सम्बन्ध ? फिर, इधर वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड पर श्री रघुनाथ शर्मा, श्रीसूर्यनारायण शुक्ल, श्री द्रव्येश झा, आदि की टीकाएं प्रकाश में आ ही चुकी है। प्राचीन टीकाएं भी अब पूरी तरह उपलब्ध हैं। अतः प्रथम काण्ड पर इतने श्रम के बाद और अधिक श्रम की आवश्यकता क्या रह जाती है ?

सम्भवतः इस शंका का उत्तर ऊपर दिया भी जा चुका है। वाक्यपदीय में भर्तृहरि का भाषाशास्त्री रूप प्रमुख होकर चमका है। प्रथम काण्ड 'आगमकाण्ड' होने से, इसमें उन सभी सिद्धान्तों का समावेश है, जिन्हें भर्तृहरि भाषा-सम्बन्धी विचार के लिए आधारभूत समझते है। परन्तु उन्हीं प्रतिज्ञासूत्रों को यदि परम्परागत दृष्टि से देखा जाए, तब वर्तमान भाषाविद् के लिए वे एक जम्बाल मात्र बनकर रह जाते है। परमाणुवाद, विवर्त्तवाद, परिणामवाद, आदि विविध दार्शनिक शब्दावलियों के प्रवेश से विषय उलझता सा ही प्रतीत होता है। भर्तृहरि इस सब शब्दावली को प्रयोग करके भी इन सब वादों से कितने ऊपर थे ?, जबतक यह बात स्पष्ट न हो जाए, हमें भर्तृहरि सबसे उलझे हुए दार्शनिक प्रतीत हो सकते हैं। यही कारण है कि पश्चिम का विद्वान्, भारतीय मनीषा की भांति, भर्तृहरि के अधिक समीप नहीं जा सका। अतः अभी आवश्यकता शेष है कि हम भर्तृहरि के भाषा-सिद्धान्तों को सही रूप में समझें। उनका 'अखण्डवाद' दर्शन का पृथक् से कोई वाद न होकर, एक समवेत दृष्टि का परिचायक है। जिस दिन हम इस बात को समझ लेंगे, उसी समय हमें भर्तृहरि एक अत्याधुनिक भाषाविद् के रूपमे प्रतीत होने लगेंगे। परन्तु, इसके लिए हमें बहुत से दुराग्रहों से मुक्त होना पड़ेगा। प्रस्तुत त्रिभाषी टीका के उद्भव के ये ही कारण है, और यही कहानी !

इससे विद्यार्थियों का कुछ भी उपकार हो सका, तो लेखक अपना प्रयास सफल समझेगा। उसकी इच्छा है कि निकट भविष्य में सारे ही वाक्यपदीय की आंग्लभाषी और हिन्दीभाषी टीका प्रकाश में आसके। वह इस दिशा में यत्नशील भी है।

यदि विद्वान् भी इसमें कुछ तत्त्व पा सके, तब यह उनकी गुणग्राहकता ही होगी।

इस काण्ड में व्यक्त प्रमुख धारणाएँ

शब्द ब्रह्म

भर्तृहरि की प्रथम काण्ड में व्यक्त कुछ प्रमुख धारणाओं के विषय में कुछ कह देना यहां उचित ही रहेगा। सर्वप्रथम हमें उसकी शब्द-ब्रह्म की धारणा का साक्षात् होता है। अपने प्रथम श्लोक में ही भर्तृहरि ने शब्द-तत्त्व को 'ब्रह्म' कहा है। उनका यह कथन किसी दार्शनिक का कथन नही है। अगले कुछ श्लोकों में यह बात कई बार दार्शनिक के से युक्तिक्रम मे कही गई प्रतीत होने लगती है। पर सत्य यह है कि, भर्तृहरि ने जब शब्द को ब्रह्म से उपमित कर ही दिया, तब वह ब्रह्म की समस्त मान्यताओं को भी शब्द पर घटा कर दिखाते हैं। इस प्रकाश मे देखने पर प्रथम काण्ड में आई हुई उनकी समस्त युक्तियाँ दर्शन के ब्रह्म पर ही घटती हुई दिखाई देंगी। परन्तु 'शब्द-ब्रह्म' का वास्तविक स्वरूप क्या है? इस बात को भली प्रकार हम तभी जान सकेंगे जब हम उनके **शब्द-सन्तान** और **प्रचयापचयात्मक** शब्दों को सही रूप में पढ़ लेंगे। इसमें शैवों या वेदान्तियों के किसी वाद की व्याख्या की आवश्यकता हमे अनुभव नहीं होती। यह एक व्यावहारिक कथन है। भर्तृहरि प्रचय और अपचय की व्याख्या स्वयं ही अगे चलकर करते है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि कोई शब्द आज जिस अर्थ मे प्रचलित है, कल वह उस अर्थ से रहित भी हो सकता है और, फिर बाद में कभी, उसी अर्थ में पुनः रूढ़ भी हो सकता है। स्पष्ट है कि इसी भाँति उसमें नये अर्थ भी आ सकते है और कुछ अर्थ सदा के लिए उससे छूट भी सकते है। पर, इस पर भी शब्द बृंहणशील—ब्रह्म—ही रहता है। वह अपनी सीमाओं से आगे बढ़ता ही रहता है। उसकी सीमा—अल्प या महान्—स्फोटकाल या किसी अन्य ध्वनि आदि पर आधारित नहीं है, बल्कि उसकी सीमा का वास्तविक आधार अर्थ या भावना पर आधारित है। वास्तव में तो शब्द है ही इस अर्थ-भावना का नाम, जिसे हम अभिधेय, प्रतिपाद्य, शब्द भावना, या अर्थ भावना—कुछ भी--कह सकते हैं। इस अर्थ में निरन्तर गतिमयता, प्रसरणशीलता, आदि रहती हैं। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की बात का जहाँ तक सम्बन्ध है, भर्तृहरि उसे भी घटा कर दिखाते है। शब्द के अन्दर तीन प्रकार की स्थिति को वे स्वीकार करते हैं। इन्हें हम उसकी 'शक्ति' भी कह सकते है। ये है धारणा, विस्तार और प्रत्यावर्त्तन। 'धारणा' स्थिति का ही दूसरा नाम है। 'विस्तार' प्रलय का रूपान्तरण मात्र है। और, 'प्रत्या-वर्त्तन' को हम उत्पत्ति का रूपान्तरण कह सकते हैं। रिटेन्शन, एक्सपैन्शन और रिवाइवल के रूप में शब्द की त्रिविध गति उसे ब्रह्म ही सिद्ध करती है। यही

है भर्तृहरि के 'विवर्त्त' का स्वरूप। उसकी व्याख्या विवर्त्तवाद के द्वारा करना उचित नहीं। जिस प्रकार ब्रह्म सर्वशक्तिमान् होकर भी स्वयं आकृतिहीन है, उसी प्रकार शब्द का वास्तविक रूप उसका बाहरी आकार नहीं है, बल्कि उसकी अन्तर्भावना या अन्तश्चेतना है। इस बात को भर्तृहरि ने अनेकत्र अत्यन्त बल के साथ दुहराया है।

यह 'शब्द-ब्रह्म' शब्द, संज्ञा, क्रिया या पद के रूप में कोई इकाई नहीं है। 'शब्द-तत्त्व' का अर्थ 'वाक्-तत्त्व' ही है। इसे भर्तृहरि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है: 'यदि वाक् का माध्यम न हो तो कभी किसी की भावनाओं को प्रकाशित होने का अवसर न मिल पाये। संसार को आपस में जोड़ने वाली और पारस्परिक व्यवहार की माध्यमभूता शक्ति भी यह वाक्-तत्त्व ही है।'

अभिव्यक्ति के चरण

वाक् की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में भी भर्तृहरि के कुछ मौलिक विचार हैं। इन विचारों को न समझने के कारण बहुत से व्याख्याताओं और टीकाकारों ने अनेक भ्रमों का सृजन कर दिया है। इनमें से एक भ्रम यह है कि भर्तृहरि वाक् की अभिव्यक्ति के **तीन चरण** स्वीकार करते है। यह धारणा कितने भ्रम पर आधारित है, इसका अन्दाज़ हमें तभी होगा, जब हम उनके द्वारा गिनाये गये चरणों से पूर्व के वक्तव्य पर भी ध्यान दें। तब हम जान पायेंगे कि उन्होंने तीन चरण गिनाते हुए केवल इतना ही कहा है कि व्याकरण के क्षेत्र में इन तीन चरणों की ही विवेचना सम्भव है। दूसरे शब्दो में, व्याकरण की चर्चा करते हुए चौथे चरण की चर्चा अनावश्यक ठहरती है। सत्य यह है कि इन तीन चरणों से परे चौथे चरण के विषय पर भी भर्तृहरि ने बार-बार बल दिया है। परन्तु वे उसे भाषा-विवेचन का मुख्य आधार नहीं स्वीकार करते।

लोक-भाषा का महत्त्व

इसी प्रकार का भ्रम एक और विषय में भी खड़ा किया गया है। यह माना गया है कि भर्तृहरि, अपभ्रंश शब्दों को उचित मान्यता न देकर, व्याकरण-सम्मत शब्दों को ही मान्यता देते हैं। ऐसे आलोचकों ने व्याडि द्वारा दी गई अपभ्रंश की मान्यता का भी कुछ और ही अर्थ कर दिया है। उन्हे पतंजलि द्वारा लोक-भाषा के महत्त्व-वर्णन मे भी कुछ और ही रहस्य दिखाई देता है। पर, एक और अविभक्त सत्य यह है कि भर्तृहरि, अपने पूर्वाचार्यों की भांति, लोक-भाषा के सबसे बड़े हामी थे। उन्होंने प्रथम बार जन-प्रचलित शब्दों को वैध मान्यता दी। इसी कारण उन्होंने भाषा के विषय में लोक के महत्त्व को पूरी तरह स्वीकार किया। कुछ जगह उन्हें अत्यन्त बलपूर्वक यह घोषणा

करनी पड़ी है कि व्याकरण केवल साधु-शब्दों का निर्णायक नहीं है, बल्कि वह तो परम्परा की व्याख्या करने का एक साधन मात्र है। उससे हमें लोक-प्रयोग की परम्परा जानने और समझने में आसानी भर हो जाती है, पर उससे भाषा की बढ़ती का नियन्त्रण नहीं किया जा सकता।

कुछ विशेष शब्द

इस प्रसंग में हमें एक भ्रम की ओर इंगित करना है। भर्तृहरि ने **श्रुति**, **स्मृति** और **आगम** शब्दों का प्रयोग बहुधा किया है। हमने भर्तृहरि की अपनी ही उक्तियों के आधार पर इनके कुछ अर्थ निश्चित किये है। एक मान्य विद्वान् ने हमारे इन अर्थों पर आपत्ति करते हुए उन्हें हमारी अपनी ही 'मौलिक खोज' कह देना उचित समझा है। सत्य यह है कि भर्तृहरि जब भी किसी सत्य को कहते है, तो उनके उस वक्तव्य की स्पष्टता हमें उन्हीं द्वारा अन्यत्र भी कई स्थलों पर उद्घोषित मिल सकती है। उदाहरणार्थ हम यहाँ इन तीन परिभाषाओं पर संक्षेप में प्रकाश डालना उचित समझते हैं। भर्तृहरि ने श्रुति को 'अकर्त्तृका' माना है, जबकि स्मृति को वे 'सनिबन्धना' स्वीकार करते है। यदि यहाँ हम इतना और स्पष्ट कर दें कि वे श्रुति की व्याख्या 'अनादि' और 'अव्यवच्छिन्ना' कह कर करते है, तब यह और भी स्पष्ट हो जाएगा कि 'अकर्त्तृका' का अर्थ क्या है ? यह एक 'व्यवस्था' है। इसे हम परम्परा कह सकते है, या 'लोक-आगम'। 'स्मृति' वे व्याकरण का ही एक दूसरा नाम रखते हैं। 'सनिबन्धना' को अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने शिष्टैर्निबध्यमाना' कहा है। इसका अर्थ हुआ कि शिष्टों के द्वारा कुछ नियम-विधान रच दिये जाते हैं, जिन्हें व्याकरण कहा जाता है। इसे ही उन्होंने 'साधुता के ज्ञान का स्रोत' कहा है। 'त्रिपदी-महाभाष्य' में भी भर्तृहरि ने व्याकरण को स्पष्टतः 'स्मृतिशास्त्र' कहा है। इन सब के अतिरिक्त 'आगम' परम्परा की मान्यता को ही पुष्ट करता है। ये सब परिभाषाएँ तब तक स्पष्ट नहीं हो सकती जब तक हम भर्तृहरि के उक्त दोनों ही ग्रंथों में बार-बार प्रयुक्त इन शब्दों को न पढ़ें। इन्हें पढ़ने के बाद हम जान पाएँगे कि भर्तृहरि वास्तव में एक ही सत्य पर अनेक रूप में पूरी तरह प्रकाश डालते हैं। यही बात उनकी अन्य शब्दावली के विषय में है।

वर्णभाग और वर्णान्तरसरूप

वाणी के अध्ययन के प्रसंग में उनकी ध्वनि-परक मौलिक अन्वेषण-शक्ति की चर्चा भी अप्रासंगिक न होगी। हमने अपने कुछ लेखों में वर्ण-भागों की समस्या पर विस्तृत विचार किया है। हमें यह प्रेरणा भर्तृहरि से ही मिली है। वास्तव में पतंजलि ने पाणिनि के कुछ सूत्रों से सहायता लेकर 'वर्णैकदेश'

की कल्पना की थी। 'सन्ध्यक्षरों' की चर्चा करते हुए उन्होंने उनमें **पूर्व-पद** और **उत्तर-पद** की सत्ता को स्वीकार किया था। पाणिनि ने उन्हें 'गुण-स्वर' या 'वृद्धि-स्वर' के रूप में स्वीकार किया। इसका भी यही अर्थ था कि वे स्वर एक और मौलिक नहीं है, उनमे कुछ-न-कुछ मिश्रण या संयोग विद्यमान है। भर्तृहरि ने इस सिद्धान्त को पूरी तरह वैज्ञानिक बना दिया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि ऐसी स्थिति प्रायः प्रत्येक ध्वनि और शब्द में पाई जा सकती है। उन्होंने हमें **वर्णभाग** और **वर्णान्तरसरूप** के रूप में दो परिभाषाएँ दी है। ये दोनों ही उनकी विश्लेषण की अद्‌भुत शक्ति को स्पष्ट करती हैं। **ध्वनियां एक-दूसरे से मिलकर ही नहीं रहतीं, बल्कि बहुत-सी ध्वनियों में बहुत से अंश भी होते हैं**—ऐसी स्वीकृति नितान्त आधुनिक प्रतीत होती है। सच तो यह है कि पाणिनि ने जब **'सवर्ण'** संज्ञा को स्वीकार किया था, उस समय ही भारतीय धारणा में यह विचार बद्धमूल हो गया था कि ध्वनियों का निर्माण कुछ अंशों से मिल-जुल कर ही सम्भव हो पाता है। भर्तृहरि ने वर्णों में वर्ण-भागों की उपस्थिति को पूरी तरह स्वीकार करके, उनमे दूसरे वर्णो से मिलती-जुलती स्थिति — वर्णान्तरसरूपता—की कल्पना की है। आज की वैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर यह सर्वथा सत्य सिद्ध हो चुका है। अमरीकी भाषाविद् डॉ० जो शुआ व्हाट्-माऊ ने इन्हीं परिणामों को संकेतित किया है।

वाक् की इकाई : वाक्य

ये सब बातें अधूरी रह जाएँगी, और कदाचित् हम भर्तृहरि के पूरे महत्त्व को न पहचान पाएँगे, यदि हम उनके 'वाक्यपदीय' के मूल वक्तव्य को पूरी तरह न समझ सकें। यह वक्तव्य वाक् या वाक्य के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में है। उन्होंने वाक् की एक, अविभाज्य और सर्वतःपूर्ण **इकाई के** रूप में **वाक्य** को स्वीकार किया है। परन्तु, इतना कहते ही उनका वक्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। आज के भाषाविद् इस विषय में बहुत कम गहराई में उतरे हैं। गार्डिनर और उनकी तरह के कुछ अन्य विद्वानों ने वाक्य के स्वरूप की जितनी चर्चा की है, भर्तृहरि ने पहले ही उस सब पर पूरी तरह प्रकाश डाला था। भर्तृहरि की चर्चा उनसे भी अधिक व्यापक ठहरती है।

नई व्याख्या

यहाँ हमें भर्तृहरि की मौलिकता और परम्परा की अस्वीकृति की ओर भी इंगित करना है। यास्क के निरुक्त का विद्यार्थी प्रायः इस भ्रम में पड़ जाता है कि औदुम्बरायण ने ध्वनियों को इन्द्रियनित्य माना है और इसी कारण वे पद-भेद या चार पदों की कल्पना के विरोधी हैं। उससे पाठक के मन पर प्रथम

प्रभाव यह पड़ता है कि औदुम्बरायण वाणी की अर्थात्मकता को नहीं मानते थे। यदि भर्तृहरि अपने वाक्यपदीय में इस चर्चा को न छेड़ बैठते, तो पाठक शायद कभी-भी यह न जान पाता कि औदुम्बरायण की इस मान्यता के पीछे प्रेरक कारण क्या था? भर्तृहरि तो औदुम्बरायण को वाक्य की अखण्डता का सबसे बड़ा उद्घोषक स्वीकार करते है। उनका कहना यह है कि औदुम्बरायण ने चारों पदों की सत्ता को मनाने से इसलिए निषेध कर दिया, क्योंकि वाक्य बुद्धिस्थ रूप में **वाक्य** एक और अखण्ड होता है। यह सत्य जानने के बाद औदुम्बरायण के प्रति किसी भी भाषाविद् का सिर स्वयं झुक जाएगा। यह बात स्वयं पतंजलि भी स्पष्ट न कर सके थे। वाक्य के स्वरूप पर विचार करते हुए भर्तृहरि फिर एक नई बात कह जाते है: "**यह सर्वथा निराकांक्ष और स्वतः-पूर्ण होता है; फिर भले ही यह एक वर्ण के रूप में क्यों न हो! वाक्य का उद्देश्य स्वयं वाक् के उद्देश्य से अभिन्न है: एक बुद्धि की भावना को दूसरी बुद्धि का विषय बना देना। यह भावना यदि एक वर्ण से ही पूरी हो जाए, तो फिर शब्दों की सार्थकता या निरर्थकता, अथवा पद-भेद आदि की बात पर विचार करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।**" यही तो औदुम्बरायण का मत था।

भर्तृहरि के ग्रन्थ

यद्यपि भर्तृहरि के ग्रन्थो की सख्या सात तक भी गिनाई गई है, पर यहा हम उन्हीं ग्रन्थों का परिगणन करना चाहेंगे, जिनका प्रस्तुत प्रसंग से मेल बैठता है। कीलहार्न, ऑफ़ेक्ट, चारुदेव शास्त्री, सूर्यनारायण शुक्ल और अभयंकर एवं लिमये ने इस विषय पर अपने-अपने ढंग से विचार किया है। युधिष्ठिर मीमांसक और सुब्रह्मण्य ऐय्यर द्वारा किया गया विचार भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। हम यहां उन्हीं तीन ग्रन्थों पर विचार करेंगे, जिस पर इन सभी ने समान रूप से विचार किया है। ये तीन है: **वाक्यपदीय, महाभाष्यटीका, और शतकत्रय।**

इस सम्बन्ध में हमें सर्वप्रथम यह स्मरण रखना चाहिए कि भर्तृहरि को व्याकरण-परम्परा में 'महावैयाकरण' और 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' कहा गया है। इनके अतिरिक्त एक अन्य उपाधि 'महोपाध्याय' के रूप में भी मिलती है, जो कि भाष्यटीका में प्रयुक्त हुई है। इनमें से पदवाक्यप्रमाणज्ञ' उपाधि के विषय में यही कहा जा सकता है कि यह उपाधि केवल वैयाकरणों के लिए ही सीमित नहीं थी। यह बात भवभूति के लिए प्रयुक्त इसी उपाधि से पता चलती है। 'वाक् वाक्य और पद' पर 'वाक्यपदीय' के रूप में विचार करने वाले भर्तृहरि की अपेक्षा इस उपाधि का अधिकारी अन्य कौन हो सकता था, जिसने सम्पूर्ण 'भाष्याब्धि का मन्थन करके वाक्यपदीय का प्रणयन किया' (भट्टोजि), और

'जिसने अपनी सारी भाष्यटीका को त्रिकाण्डी' (वाक्यपदीय) बनाकर निबद्ध किया' (हेलाराज) ? सच तो यह है कि वाक्यपदीय का विचार का तरीका अपना होते हुए भी भाष्य की सारी मुख्य समस्याओं का उल्लेख वहाँ हो गया है। हां, उनके उत्तर अवश्य महाभाष्य की परम्परागत सरणि में न देकर भाषा-वैज्ञानिक की सूझबूझ से दिए गए है। निष्कर्ष का जहां तक सम्बन्ध है, भाष्य-टीका और वाक्यपदीय के निष्कर्ष एक ही है। अनेकत्र शब्दावली और युक्ति-क्रम भी सर्वथा एकसा है। अतः 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' कहलाने के अधिकारी वे अपने 'वाक्यपदीय' के कारण हुए, जिसे हम भाषाशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ कह सकते हैं। क्योंकि उसके विवेच्य विषय उसी कोटि में गृहीत होते हैं : वाक्, वाक्य, पद।

उनकी दूसरी उपाधि 'महावैयाकरण' है। निश्चय ही इस उपाधि का सम्बन्ध उनकी भाष्यटीका से अधिक है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि आज यह अमूल्य टीका ही पूरे रूप में उपलब्ध नहीं होती। इसकी एकमात्र खण्डित प्रति कुल ४३४ पृष्ठों (या २१७ पन्नों) तक समाप्त हो जाती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्रथम पाद के ५५ वें सूत्र की चर्चा तक ही यह मिल पाती है। परन्तु जर्मनी की इसी प्रति के एक पृष्ठ पर स्वयं लिपिकार के हाथ यह लेख मौजूद है, 'खण्डित प्रति, पृष्ठ संख्या २०००, गुण और संख्या प्रकरण लुप्त।' स्पष्ट है कि लिपिकार जिस भी प्रति से अनुकृत करके इस ग्रन्थ को लेखबद्ध कर रहा था, वह स्वयं भी अपूर्ण थी। फिर भी इस खण्डित प्रति में भी दो हजार पन्ने तो थे ही। इनमें से भी वर्तमान में कुल २१७ पन्ने उपलब्ध हैं। सातवां आह्निक भी पूरा नहीं हुआ है।

पर यह खण्डित प्रति भी यह बताने के लिए पर्याप्त है कि भर्तृहरि व्या-करण के भी कितने महान् पण्डित थे ? तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाष्यटीका उन्होंने प्रथम लिखी थी। उसे पूरा करने के बाद ही उन्होने वाक्यपदीय में 'भाष्यसार' को नए रूप मे दार्शनिक विचारार्थ लिया। उनकी मौलिकता को बताने के लिए एक दो बातें ही कदाचित् पर्याप्त रहेंगी। 'चत्वारि पदजातानि' की व्याख्या में पतंजलि कहते है : 'द्वौ शब्दात्मानौ, नित्यः कार्यश्चेति।' भर्तृहरि इसी की व्याख्या में कहते है : 'चत्वारि पदजातानि। यानि तानि अस्य श्रृंगाणीव। कर्मप्रवचनीयाः निपातेष्वन्तर्भूता इति चत्वार्यु-च्यन्ते।' अर्थात्, वे इंगित करना चाहते है कि वास्तव में निपात और उपसर्ग से आकार में अभिन्न होकर भी कर्मप्रवचनीय उनसे पृथक् कोटि के ही ठहरते हैं। उन्हें, कम से कम, उपसर्ग की कोटि में तो किसी भी रूप में नही रखा जा सकता। इसी लिए यदि 'चत्वारि' की गिनती पूरी ही करनी है, तब उन्हें 'निपातों' के अधिक निकट रखना होगा। अन्यत्र एक जगह वे 'एकः शब्दः' को

नए ढंग से किंचित् परिवर्त्तन के साथ पढ़ते हैं : 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति ।' अन्यत्र वे इसे ही 'शास्त्राद्विदुषा प्रयुक्तः स्वर्गे ०' आदि के रूप में पढ़ते हैं ।

अपनी टीका लिखते हुए भर्तृहरि व्याडि के 'संग्रह-ग्रन्थ' से परिचित अवश्य थे । एक ओर जहां वे 'संग्रहेऽस्तमुपागते' के द्वारा संग्रह के अनस्तित्व को सूचित करते है, वहां वे उसके वक्तव्य विषय से पूरी-पूरी जानकारी व्यक्त करते हैं । उदाहरणार्थ नित्य-कार्य की चर्चा में उनका यह कथन : 'चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहे ।' अन्यत्र ये दो वचन अवधेय हैः

१. "यदि निमित्तापेक्षो रूढिशब्दः सर्वथा नास्ति नित्यपर्यायवाचिन इति निर्णयः संग्रहे कार्यप्रतिद्वन्द्विभावात् ।"
२. "एवं संग्रहे एतत्प्रस्तुतं किं कार्यः शब्दोऽथ सिद्ध इति । कार्यशब्दसंनिधाने प्रयोगात् सिद्धशब्दो नित्यस्यार्थवृत्तिः । तथा न । किं तर्हि कार्यो ? न कार्यः सिद्ध इति । कार्यत्वप्रतिषेधात् सिद्धत्वप्रतिषेधाच्च निश्चितं संग्रहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणम् ।···संग्रहोऽप्यस्य शास्त्रस्यैकदेशः । तत्रैकतन्त्रत्वाद् व्याडेश्च प्रामाण्यादिहापि तथैव सिद्धशब्द उपात्तः ।" इत्यादि···।

एक भ्रम :

वाक्यपदीय के साथ तुलनात्मक अध्ययन से यह भी सिद्ध होता है कि भर्तृहरि ने यह टीका सम्पूर्ण महाभाष्य पर ही लिखी थी । सम्भवतः वाक्यपदीय के तीन काण्डों को देखकर ही वर्धमान और आफ्रेक्ट ने कथित 'त्रिपदी' को आरम्भ में 'त्रिपादी' कहना उचित समझा था । कुछ अन्य का यह भ्रम 'त्रिपादी' नामक उस ग्रन्थ के कारण है, जो 'असिद्धवदत्राभात्' से आगे के 'असिद्ध त्रिपाद' व्याकरण की व्याख्या के लिए अत्याधुनिक काल मे लिखा गया है । अन्यथा हेलाराज के इस कथन का अर्थ कोई सामान्य विद्यार्थी भी समझ लेगा : 'येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता' : अर्थात् 'जिसने त्रिकाण्डबद्ध वाक्यपदीय के रूप में ही 'त्रिपदी' को रख दिया है', या 'जिसने त्रिपदी को त्रिकाण्डी भी बना दिया ।'

भर्तृहरि ने 'त्रिपदी' नाम क्यों रखा ?' यह शंका हो सकती है । पर, इसका उत्तर 'त्रिपादी' नाम का औचित्य ठहराकर नहीं दिया जा सकता ।

इसी के दूसरे नाम 'दीपिका' या 'भाष्यटीका' भी मिलते हैं ।

शतकत्रय :

भर्तृहरि के 'शतकत्रय' को लेकर पर्याप्त विवाद रहा है । कुछ विद्वान् इन्हें भर्तृहरि की ही कृति मानते हैं, जबकि अन्य कई इन्हें इस महावैयाकरण की कृति नहीं मानते । डा० अभयंकर और लिमये ने किंचित् अधिक स्पष्टता के साथ कहा

है कि वे शतकत्रय के लेखक को भिन्न ही मानते है। इस विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि 'नीतिशतक' के अनेक स्थल और उदाहरण इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि वह कृति 'वाक्यपदीयकार' की रचित होनी सम्भव है। वाक्यपदीय' का कोई भी अध्येता इस बात से इन्कार नहीं करेगा भर्तृहरि दिक्, काल और चैतन्य की अविच्छेद्य एकता के सर्वप्रधान उद्घोषक है। यह बात स्थल-स्थल पर तो व्यक्त हुई ही है, पर वाक्यपदीय के आरम्भिक श्लोकों में भी स्पष्ट हुई है। अनादिनिधन ब्रह्म', 'कालशक्ति', 'चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्त्तते', आदि प्रसंगों से 'नीतिशतक' का यह आदिश्लोक कैसे पृथक् समझा जा सकता है ? :

"दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकसाराय नमः शान्ताय तेजसे।"

२. 'लभेत सिकतासु तैलमपि' श्लोक में गिनाए 'तैल' **'मृगतृष्णा'** और **'शशविषाण'**—महावैयाकरण और पदवाक्यप्रमाणज्ञ भर्तृहरि के अत्यन्त प्रिय उदाहरण रहे हैं। अन्यत्र भी यह बात खोजी जा सकती है।

३. शैली की सरलता अत्यधिक अवधेय है। वाक्यपदीय में जिस सरलता से वे विषय को उठाते हैं, वही सरलता हमें शतकत्रय में भी पदे-पदे लक्षित होती है।

अतः यदि महावैयाकरण होते हुए भी भर्तृहरि ने ये तीनों शतक लिखें हों, तो इसमें आपत्ति की क्या बात ?

टीकाएं

विभिन्न रूप में हमें प्रथम काण्ड पर होने वाली टीकाओं के प्रमाण मिलते हैं :

१. भर्तृहरि की स्वोपज्ञ टीका, २. वृषभदेवकी टीका, ३. पुण्यराज की टीका, ४. हेलाराज की शब्दप्रभा टीका। परन्तु इनमें से चौथी टीका उपलब्ध नहीं होती है। भर्तृहरि की स्वोपज्ञ टीका को मध्यकालीन लेखकों ने वाक्यपदीय की कारिकाओं से अभिन्न मानकर ही उद्धृत किया है। अर्थात् वे उसकी प्रामाणिकता में असंदिग्ध थे। पुण्यराज की टीका का प्रामाणिक संस्करण पं० रघुनाथ शर्मा ने खण्डित रूप में प्रस्तुत किया है। प्राचीन उपलब्ध रूप की प्रामाणिकता नितान्त संदिग्ध है। हेलाराज की टीका का उल्लेख स्वयं उसने ही क्रमशः वा० ३-१-३ और ३-१-४६ टीका में किया है। अन्तिम दोनों के विषय में अधिक अनुसन्धान अपेक्षित है। भर्तृहरि की स्वोपज्ञ टीका का प्रामाणिक संस्करण चारुदेवजी ने किया था। रघुनाथशर्मा और ऐय्यर के प्रयास भी इस

विषय में सराहनीय है। वृषभदेव की टीका का सम्पादन डा० ऐय्यर ने 'स्वोपज्ञ' के साथ किया है।

काल निर्णय

जहां तक भर्तृहरि के काल का प्रश्न है, उसपर चारुदेवजी, रघुनाथशर्मा, ऐय्यर और अभयंकर-लिमये ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके निष्कर्षों को हम निम्न रूप में रख सकते हैं :

भर्तृहरि का काल ४५० और ५०० ईस्वी के बीच रहा होगा। क्योंकि :—

(क) हरिस्वामिन् का समय डा० लक्ष्मणस्वरूप ने ५३८ ईस्वी के आस-पास माना है। हरिस्वामी भर्तृहरि की प्रथम कारिका का किंचित् अन्तर से पाठ करते हैं।

(ख) दिङ्नाग का समय ४८०-५४० ईस्वी के बीच माना गया है। वह भर्तृहरि की दो कारिकाएं 'यथा विशुद्धमाकाश' तथा 'तथेदममृतं ब्रह्म' (तिब्बती संस्करण की ३१, ३२ का०) उद्धृत करता है, जो संस्कृत की अपनी प्रतियों में नहीं मिलती।

(ग) पातंजल योगसूत्र के व्यासभाष्य में भर्तृहरि के 'सोऽयमित्यभिसम्बन्धात्' की झलक मिलती है। इन व्यास का समय डा० काणे ने ४००-५०० ईस्वी के बीच रखा है। व्यासभाष्य में ही 'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेत्' का भी संकेत मिलता है। उसकी स्वोपज्ञ टीका में भर्तृहरि कहते हैं : 'यथा प्रकाशकत्वमग्नेः स्वरूपं चैतन्यं वान्तर्यामिणोः, तथा ज्ञानमपि सर्वं वाग्रूपमात्रानुगतम्।' इसे ही व्यास दुहराते हैं : 'वस्तुशून्यत्वेपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति।'

हमने अपने नवीन 'संस्कृत व्याकरण का इतिहास' में यह काल ५०० ई० रखा है।

भर्तृहरि बौद्ध या वैदिक

इस विषय में भी दोनों तरह के प्रमाण उपस्थित किए जाते हैं। 'उन्होंने बार-बार बौद्ध और वैदिक धर्म के बीच आवागमन किया', ऐसा कहना भ्रामक है। इत्सिंग के समय तक सम्भवतः महावैयाकरण भर्तृहरि और बौद्ध अथवा नाथपन्थी राजा भर्तृहरि की कथाएं परस्पर उलझ गई थीं। राजा गोपीचन्द के भाई भर्तृहरि का गुरु गोरखनाथ से मिलन प्रसिद्ध है। नाथ-पन्थ का वज्रयान से प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध था ही। वज्रयान बौद्ध सम्प्रदाय था। संस्कृतज्ञों के

लिए नाथपन्थ भी उसी प्रकार का अवैदिक सम्प्रदाय था। इसलिए उस नाथपन्थी भर्तृहरि के विषय में इस प्रकार की बात का प्रचलन असम्भव न था। किन्तु, महावैयाकरण और पदवाक्यप्रमाणज्ञ भर्तृहरि पुनः-पुनः अपने वेदविद् होने को उद्घोषित करते प्रतीत होते हैं। चैतन्य, काल, दिक्, आदि की अखण्डता और नैत्यिकता में विश्वास रखनेवाला और शब्दब्रह्म का महान्तम उद्घोषक भर्तृहरि किसी भी प्रकार 'बौद्ध' नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत वह बौद्धों के अर्थसम्बन्धी अपोहसिद्धान्त का खण्डन करते हैं। 'अपोद्धार' का उनका सिद्धान्त उनके अखण्डवादी होने के कारण है। श्रुति और आगम की प्रमाणिकता के साथ-साथ ऋषियों और तत्कृत स्मृतियों को 'अविच्छेद्य' कहने वाला लेखक केवल श्रद्धावश ही ऐसा नही कर रहा। उसका इस सम्बन्ध में दृढ़ विश्वास है। 'त्रिपदी' टोका में तो 'ऊह' पर चर्चा करते हुए उसका जो वेदविद् रूप स्पष्ट हुआ है, वही उसे वेदविशारदों की कोटि में बैठा देने के लिए पर्याप्त है।

ऐसा भर्तृहरि बौद्ध कैसे हो सकता है? बौद्ध दार्शनिकों ने तो उसकी व्याकरणात्मक और दार्शनिक मान्यताओं का खण्डन ही किया है।

प्रस्तुत टीकाएं : वक्तव्य

प्रथम काण्ड की यह त्रिभाषी टीका लेखक का अपना स्वीकृत श्रम कहा जा सकता है। कहीं-कहीं संस्कृत टीका में 'स्वोपज्ञ टीका' से और आंग्ल टीका में डा० ऐय्यर के अनुवाद से सहायता ली गई है। परन्तु ऐसा किसी चोरी या असमर्थता की भावना से नहीं किया गया है। लेखक के निष्कर्ष सदा अपने ही रहे हैं। यही कारण है कि कहीं भी, एक भी श्लोक में, पूरा अनुकरण नहीं हुआ है। बल्कि संक्षेप करने के लिए कहीं-कहीं ऐसा उचित लगा है। पर, गुरुजनों से आभार प्रदर्शन के बिना भी उधार लेने की प्रवृत्ति तो स्वयं पाणिनि और भतृहरि के प्रयासों तक में है। अतः डा० ऐय्यर के प्रति यदि आभार प्रकट किया भी जाए, तब भी भर्तृहरि के प्रति यह कैसे सम्भव है? उसका तो यह सब कुछ ही है। फिर श्री चारुदेव शास्त्री और ऐय्यर जेसे धुरन्धरों का क्या यही उपकार कम है कि उन्होंने अपने वर्षों के श्रम से एक लुप्त महार्णव को प्रकाश में लाने का उपक्रम किया।

लेखक जैसे न जाने कितने श्रमियों को उनका उपकार सदा मानना पड़ेगा।

आधार

इस टीका के लिए हमने सभी संस्करणों का आधार लिया है। प्रमुखतः हमारे सम्मुख श्री चारुदेव जी, डा० ऐय्यर और अभयंकरादिकृत संस्करण रहे है। रघुनाथ शास्त्री के पाठ भेदों को भी हमने ध्यान में रखा है। फिर भी स्वोपज्ञ टीका, इन संस्करणों, सामान्य अर्थबुद्धि, और त्रिपदी टीका को ध्यान में रखकर जो भी पाठ उचित लगा, उसी को स्वीकार कर लिया है। यही कारण है कि कुछस्थलों पर एक संस्करण के पाठ ठीक माने गए हैं, तो दूसरे स्थलों पर किसी दूसरे संस्करण के। एक सौ सत्ताइसवें श्लोक के विषय में हमने अभयंकरादि का ही अनुकरण किया है। इसीलिए श्लोक संख्या १५६ हो गई है।

स्मर्त्तव्य सत्य

इस पर भी यह सत्य स्मर्त्तव्य है कि यह त्रिभाषी टीका मूलतः विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है। इसीलिए विवाद के अनेक स्थलों पर केवल पादटिप्पणी देकर ही सन्तोष करना पड़ा है। पर तो भी इतना ध्यान रखा गया है कि सभी ज्ञातव्य बातों का समावेश हो जाए।

इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर टीका के अतिरिक्त अन्त में तीन परिशिष्ट भी दे दिए हैं। **प्रथम** में वर्णानुक्रम से श्लोकानुक्रमणी दी गई है। **द्वितीय** में प्रथम काण्ड मे आए भर्तृहरि के भाषाविषयक सिद्धान्तों को हिन्दी और आंग्ल-भाषा में सूत्ररूप में दिया गया है। **तृतीय** में उन सभी विचारणीय प्रश्नों पर फुटकर नोट के रूप में पादटिप्पणियां दी गई हैं, जो विद्यार्थियों के लिए उपयोगी और प्रष्टव्य हो सकते है। जहां यह समझा गया है कि लेखककृत 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' में चर्चित प्रकरण ही पर्याप्त रहेंगे, वहां चर्चा नहीं भी की गई है। ऐसे पठनीय स्थलों के संकेत के साथ-साथ सर्वत्र स्मर्त्तव्य श्लोकों की संख्या का भी उल्लेख कर दिया गया है।

यह सब विद्यार्थियों की सुविधा के लिए किया है।

अन्त में

अन्त मे प्रकाशकों के प्रति आभार प्रदर्शन एक पुनीत कार्य है, जिनके उत्साह के बिना यह कार्य सम्भव ही न हो पाता।

वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डम्

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥१॥

तत्रादौ शब्दतत्त्वस्य ब्रह्मत्वमुपस्थापयति—

"यद् ब्रह्म अनादिनिधनमाविर्भावतिरोभावादिरहितं वा विद्यते, तच्छब्दतत्त्वरूपेणैवास्ति। अनेनैव रूपेण तस्य जन्ममरणादिरहितत्वं बृंहणत्वं च सिद्ध्यति। तदेव शब्दतत्त्वं त्रुटिरहितं क्षरणहीनं वा भवति। अतो ह्युक्तमक्षरमिति। ब्रह्मरूपिणानेनैवात्मनोऽर्थरूपेणार्थभावेन वा जगतो व्यावहारिकी प्रक्रियाऽनुदिनं प्रवर्त्यते ; अनेन विनाऽऽत्माभिव्यक्तिप्रक्रियाया असंभवात् ।"

अत्र 'विवर्तत' इत्यनेन धारणबृंहणप्रत्यावर्तनरूपस्त्रिगुणात्मको व्यापारोऽभिप्रेतः ।

Brahman, which is beyond the birth or death, is nothing but S'abdatattva or Speech-element itself. It is this element which never loses anything, anyway, and which thus becomes 'Akṣara'. With the help of this element only the world is capable to carry on its very existence and social behaviour. And all that becomes possible through its Meaning factor only; that being its 'modus operandi'.

"जो ब्रह्म नित्य बृंहणशील है तथा जिसका आदि और निधन सम्भव नहीं है, वह वास्तव में शब्दतत्त्व ही है। उसकी स्थिति या उसके महत्त्व में किसी प्रकार का क्षरण या न्यूनता आदि सम्भव नहीं है : वह 'अक्षर' है। उसी शब्दतत्त्व का एक और अविच्छिन्न पक्ष अर्थभाव (अर्थात्मा) है [अर्थसत्ता के रूप में], जिसके द्वारा अथवा जिससे उद्भूत होकर इस जगत् की व्यवहार-प्रक्रिया चलती है।"

टिप्पणी:—इस श्लोक में 'ब्रह्म' को 'शब्दतत्त्व' कहा गया है। 'वेदान्त' की शब्दावली के द्वारा ही समस्त वाग्व्यापार के मूल रहस्य को समझाने का यत्न

किया गया है । ब्रह्म को 'अनादिनिधन', 'नादरूप' या 'बिन्दुरूप', तथा 'अक्षर' कहा ही जाता है । इसके साथ ही ब्रह्म की 'विवर्तन' शक्ति को संसार की सम्पूर्ण लीला का आधार भी माना गया है । वेदान्त में 'विवर्त' का प्रयोग केवल प्रलय के अर्थ में ही सीमित नहीं रह गया है, बल्कि इसके द्वारा जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय की सभी प्रक्रियाओं का अन्तर्ग्रहण हो जाता है । परन्तु ब्रह्म के विषय में केवल इतनी ही बात भर्तृहरि को नहीं कहनी है । बल्कि, आगे चलकर वे अन्य भी बहुत-सी बातें ब्रह्म के विषय में कहेंगे । यहाँ और आगे उनका विषय सर्वत्र सृष्टि-रचयिता अध्यात्म 'ब्रह्म' नहीं है, बल्कि वैयाकरण और भाषाविद् की सच्ची दृष्टि से देखने वाले भर्तृहरि का कथ्य वह 'शब्दतत्त्व' है, जिसे वे अध्यात्मवादी ब्रह्म के समकक्ष मानते है, अथवा जिसके कारण वे ब्रह्म को भी 'नादब्रह्म' के रूप में कह देते हैं । यहाँ अवधेय यह है कि भर्तृहरि ने 'शब्दतत्त्व' का प्रयोग किया है, 'शब्द' का नहीं । जिसे अंग्रेजी में हम 'स्पीच-एलीमेंट' कह सकते हैं, उसे ही यहाँ 'शब्दतत्त्व' के रूप में कहा गया है । अर्थात्, शब्दव्यापार की जो एकसूत्रता और एकतानता का उत्सरूप 'तत्त्व' है । ऐसे शब्दतत्त्व या 'स्पीच-एलीमेंट' के ही विषय में कहा जा सकता है कि 'न उसका उद्गम ज्ञेय है, न अवसान ! एवं वह नित्य बृंहणशील और अक्षर है । तथा, अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण, अथवा सामाजिक जीवन का संचालक होने के कारण, वही संसार भर की जागतिक व्यवहारप्रक्रिया का केन्द्र या धुरा है ।'

विवर्तते—इस पर विशेष टिप्पणी के लिए देखें लेखक कृत 'भाषा० वाक्य०,' पृ० १०८, अनुच्छेद १११.

ब्रह्म—'बृहू बृंहणे' धातु को यहाँ मूल स्वीकार किया गया है । 'ब्रह्म' की भाषावैज्ञानिक व्युत्पत्ति एवं विस्तृत चर्चा के लिए विशेष देखें, डा० जे० गोण्डा लिखित 'ब्रह्मन्' ।

एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् ।
अपृक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते ॥२॥

शब्दतत्त्वस्यैक्येऽपि तत्र भेदहेतुमाह—

"तच्छब्दतत्त्वमेकमखण्डमभिन्नं च पठ्यते । तस्य संभावितान्यनेकानि रूपाण्यपि परस्परं भिन्नानि नैव सन्ति । सन्ति च तत्र नानाशक्तयः स्वीकृतास्तस्यैवैकात्मकस्य शब्दतत्त्वस्य । दिक्कालादिशक्तीनामाश्रयेण तदेकमभिन्नमपि शब्दतत्त्वं पृथक्त्वेन भिन्नमिवाभाति ।"

Though this S'abdabrahman is *one* and *indivisible,* still it has been studied as divided into *many*. This apparent plurality is due to its different inherent factors. These factors seemingly divide it into different entities, although its different aspects are mutually inseparable; it being an absolute 'entity' itself.

"शब्दतत्त्व की अनेक शक्तियाँ दिक्, साधन, क्रिया, काल, आदि के रूप में मानी जाती हैं। उन्हीं के आधार पर मूलत: 'शब्दतत्त्व' के रूप में वह 'ब्रह्म' या 'बृंहणशील' तत्त्व एक होते हुए भी भिन्न आकारों या नामों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में विभक्त-सा माना जाता है। वास्तव में वे शब्दरूप तत्त्वत: एक ही है— पृथक् नहीं है। किन्तु शक्तियों का चमत्कार यह है कि उनसे उत्पन्न आकार या भावना भेद के कारण उसकी विविध प्रयोगावस्थाओं को हम पृथक्-पृथक् विद्यमान मान बैठते हैं।" [अगले ही श्लोक में कालशक्ति का उदाहरण दिया गया है।]

टिप्पणी :—वेदान्त और शैवमार्ग के सिद्धान्तों के आवरण में यहाँ भी भर्तृहरि का वास्तविक वर्ण्य शब्दतत्त्व है, ब्रह्म नहीं। 'शक्ति' के विषय में भर्तृहरि अनेकत्र अनेकरूपा शक्तियों की चर्चा करते हैं : काल, दिक्, साधन क्रिया, (वा० ३-६-१ के अनुसार), ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व (वा० १-५५), समवाय (३-३-१०), आदि उन स्वीकृत शक्तियों में से कुछ हैं। परन्तु, यह अवश्य स्मर्तव्य है कि अपने सम्पूर्ण विवेचन में वे आलंकारिकों द्वारा मान्य शब्दशक्ति की चर्चा कहीं भी नहीं करते। स्फोट के अनन्य उद्घोषक होने के कारण वे उन्हें मान भी नहीं सकते थे। अंग्रेजी में इसके लिए सर्वोचित शब्द 'फोर्सेज़' हो सकता है, 'पॉवर' नहीं।

स्मर्तव्य :—यहाँ 'भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्' और 'भिन्नशक्तिव्यपा०' के रूप में दो पाठभेद उपलब्ध होते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में मूल कथ्य एक ही रहता है।

'शक्ति' के विषय में भर्तृहरि के विस्तृत विचार पढ़ने के लिए देखें 'भाषा० वाक्य०' का अध्याय १३, 'शब्दशक्ति', विशेषत: अनुच्छेद १९६-७, एवं पृ० १११, अनु० ११५।

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ॥३॥

उदाहरणेनेदं पुष्णाति—

"तस्यैव शब्दब्रह्मणः प्रधानतमा ह्येका कालशक्तिः, तस्यैव पूर्णब्रह्मणः कलारूपेण स्थिताऽध्याहिताऽव्याहता च। तामुपाश्रित्यैव

जन्मादयो विकाराः षट्संख्याकाः प्रकल्प्यन्ते। त एव यास्कप्रोक्तानां षड्भावविकाराणां जन्महेतवः। भावस्तु सत्तारूपेण अच्छेद्योऽखण्ड्यश्च। परं कालशक्त्याश्रयेणैव तस्यापि षडवस्थाः प्रकीर्त्यन्ते।"

For example, we can take the case of Time-factor, which is integral of S'abdabrahman, and due to which we divide the 'existence' into different Six Stages, *i e.*, Birth, Growth, Decay, etc. These stages, in their turn, give rise to the six-folded differentiation in the integrated process of 'becoming' (bhāva).

"कालरूपा शक्ति उस शब्दब्रह्म की एक अविच्छेद्य और अन्तर्हित कला है। वह अनाहत और अप्रतिरुद्ध है। उसको आधार बनाकर ही जन्म, वृद्धि, क्षय, मरण, आदि छह विकृतियां या विविध स्थितियाँ मानी जाती हैं, जो आगे चलकर छह विविध 'भावभेदों' को जन्म देती हैं।"

टिप्पणी :—पहला पाठभेद यहाँ 'अध्याहितकलां' और 'अव्याहतकलां' के रूप में है। समास की दृष्टि से दोनों स्थानों पर एक-सी आपत्ति या औचित्य कहा जा सकता है। अर्थ की दृष्टि से 'काल' के स्वभाव या गुण के भेद का अन्तर है। इसीलिए ऊपर अर्थ में हमने दोनों पर आधारित भावना को ग्रहण किया है। 'काल' को 'शक्ति' क्यों कहा गया है, इसकी चर्चा तो यथास्थान ही होगी। यहाँ यह अवश्य ज्ञातव्य है कि 'नाम' और 'आख्यात' में उभयत्र 'काल' का तत्त्व व्यामिश्र अथवा अन्तर्हित होता है। उनमें अन्तर इतना ही है कि 'आख्यात' में 'क्रमवत्ता' की उपस्थिति मुख्य लक्षण बन जाती है, जबकि 'नाम' में 'क्रमवत्ता' का उपसंहार या संहार हो जाता है। यदि समग्र शब्दव्यापार में 'काल' का विषय अन्तर्गृहीत न हो, तब 'शब्द की नित्यता-अनित्यता' का सारा प्रश्न ही व्यर्थ हो जाएगा।

'जन्मादि छह विकार' के द्वारा वार्ष्यायणिकथित 'षड्भावविकारों' की ही बात दोहराई गई है। 'भावभेद' के द्वारा वक्तव्य की विविध स्थितियों या उसमें गृहीत विविध 'भावदशाओं' की ओर इंगित किया गया है। 'भावविकारों' को 'योनि' कहने से स्पष्ट है कि 'भावभेद' या 'भावदशाएं' संख्या में अधिक भी हो सकती हैं।

'उपाश्रिताः' के प्रयोग द्वारा संकेत मिलता है कि जन्मादि छहों भावविकार 'काल'-तत्त्व पर ही आश्रित हैं।

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा ।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः ॥४॥

वेदस्योदाहरणेनेदमेकत्वमनेकत्वं च विवेचयति, द्वाभ्यां श्लोकाभ्याम्—

"यस्य चैकस्य सर्वमूलस्य शब्दब्रह्मण एकत्वेऽप्यनेकप्रकारेणानेकहेतुना च भोक्तृभोक्तव्यभोगादिरूपेण नानात्मिका स्थितिः स्वीक्रियते ।"

It is the same all-producing S'abdabrahman, which seems to act differently in different situations. For example, it becomes itself the User, Used and Usable in different situations.

"ब्रह्मरूप वह शब्दतत्व 'एक' और 'सर्वबीज' है । अर्थात्, वह मूलतत्व के रूप में एक है, और नए-नए शब्दरूपों को जन्म देने का कारण है । परन्तु, इस पर भी वह भोक्ता, भोक्तव्य और भोग के रूप में या इन स्थितियों के द्वारा वह अनेकरूपता को प्राप्त करता है ।"

टिप्पणी :—'सर्वबीज' फिर से 'स्पीच-एलीमेंट' वाली बात की ओर इंगित करता है । 'भोक्ता, भोग, भोक्तव्य' का एकत्र प्रयोग हमें वेदान्ती चर्चा का ही आभास देता है । पर, ३-२-१४ के अन्तर्गत भर्तृहरि 'दर्शन, दृश्य, द्रष्टा' आदि के प्रयोग द्वारा, एवं अन्यत्र ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय के एकत्रित प्रयोग के द्वारा, इन शब्दों के वास्तविक और भाषातात्त्विक अर्थ का इंगित करते हैं ।

'सर्वबीज' की अधिक व्याख्या देखें 'भाषा० वाक्य०' के पृष्ठ १११, 'अनु० ११६ में ।

प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः ।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक्-पृथक् ॥ ५ ॥

"तस्यैव प्राप्त्युपायभूतोऽनुकृतिरूपश्च भगवान् वेदोऽपि महर्षिभिः बहुमार्गो बहुप्रशाखो वा स्वीकृतः संकलितश्च । ज्ञानरूपेणाविच्छिन्नो वेदः शब्दब्रह्मण एव व्याख्याता ।"

Veda is a means to attain the same S'abdabrahman. It is essentially *one* and *indivisible*. Still the Seers have divided it into

so many separate branches, and each of them seems to be leading into a different direction.

"उस ब्रह्म अथवा शब्दब्रह्म की प्राप्ति का उपाय और उसकी अनुकृति 'वेद' है । 'वेद' निश्चय ही एक है, क्योंकि उसका वर्ण्य अथवा लक्ष्य एक है । किन्तु एक होते हुए भी उस 'वेद' को महर्षियों ने इस प्रकार से वर्गीकृत और विभक्त-सा वर्णित किया है, जैसे उसका लक्ष्य, अथवा उसमें वर्णित सरणि, 'एक' न होकर 'अनेक' हो । अथवा, उन्होंने स्वमति के अनुसार उसका अनेकशः या खण्डशः संकलन किया है ।"

टिप्पणी :—'अनेकवर्त्मा' के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि वेद को 'एक' कहने का अर्थ भी 'एकवर्त्मा' कहना ही है । इससे 'वेद' के चतुर्धा विभाग को अन्यथा सिद्ध करना अभिप्रेत नहीं है । प्रत्युत, इससे उस सम्पूर्ण विभाजन के पीछे छिपी 'एकता' को सूचित करना अवश्य अभिप्रेत है ।

'समाम्नातः' का प्रयोग एकत्रीकरण, सम्पादन, और पठन, आदि अर्थों में सामान्य रूप में ही हुआ है ।

'वेद' का विषय अध्यात्म का तथाकथित 'ईश्वर' या 'ब्रह्म' है, या समस्त ज्ञानराशि ; यह बात यहां पूर्णतः विवेचित नहीं हुई । पर यह स्पष्ट है कि भर्तृहरि यह लक्ष्य 'ज्ञानराशि' के रूप में ही स्वीकार करते हैं । और 'ज्ञान' सदा एक और अविच्छिन्न ही होता है । यह बात अगले श्लोक से भी सिद्ध हो जाती है ।

भेदानां बहुमार्गत्वं कर्मण्येकत्र चाङ्गता ।
शब्दानां यतशक्तित्वं तस्य शाखासु दृश्यते ॥ ६ ॥

बहुप्रशाखित्वेऽपि तस्यैकत्वमुद्घोषयति—

"तस्य भगवतो वेदस्य शाखास्वेवेदं स्पष्टीभवति यत्कथं बहुमार्गिणोऽप्येते भेदाः कर्मैकत्वेनैकीभूता एककेन्द्रीभूता वा जायन्ते । एकस्यैव कर्मणस्तत्र प्राधान्यम् । भेदास्तु तस्यांगोपांगनिबन्धनाः । अनेनैव हेतुना ते प्रधानेऽपि चाङ्गतामुपयान्ति । शब्दानां पुनः शक्त्यशक्तिप्रदर्शनमप्येतासु वेदशाखास्वेव दरीदृश्यते ।"

After a careful study of these different branches, we can very well realise that these, seemingly different or various, ways lead towards the same goal, and subordinate themselves before

that main object, which is one and integrated. Only in this way we can find the reality about the potentialities of the words.

"ये भेद किस प्रकार अनेकवर्त्मा या बहुमार्गी हैं, तथा उद्देश्य की दृष्टि से किस प्रकार ये एकत्र अंगीभूत होकर एकवर्त्मा बन जाते हैं, यह बात विविध शाखाओं के अध्ययन के बाद स्पष्ट हो जाती है। तब हम जान पाते हैं कि शब्दों का संयत अथवा अबाध प्रयोग किस प्रकार इन प्रश्नों के निर्णय में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।"

टिप्पणी :—'वेद' की 'एकलक्ष्यता' या 'एकवर्त्मता' उनके उद्देश्य की एकता में है, यही बात 'कर्मण्येकत्र चाङ्गता' के द्वारा स्पष्ट कही गई है।

शब्दों की अनेकार्थता, अर्थ-विस्तार अथवा अर्थसंकोच की वृत्ति, एवं अन्यान्य शक्तियाँ ही उनकी 'यतशक्तिता' को सिद्ध करती हैं।

स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः ।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः ॥ ७ ॥

तदेव पुनरपि स्पष्टमाह—

"तं वेदमेवाश्रित्य वेदज्ञैर्महर्षिभिर्विविधेभ्यो लिङ्गेभ्यश्चिह्नेभ्यो वा तेष्वेवाश्रिता नानारूपाः स्मृतयो निर्मिताः प्रकाशिता वा। तासां मध्ये केषांचन प्रयोजनं स्पष्टं वर्तते, केषांचन पुनस्त्वस्पष्टमेव। लिंगास्तु पुनरेकत्वानेकत्वस्थापकाश्चिह्नविशेषाः। स्मृतयश्च पारम्पर्यगतविधानसंग्रहात्मिकाः।"

Vedic scholars created many a different Smṛti with obvious or obscure purposes, though drawing upon the same source, *i.e.*, Veda. This was possible only because of certain distinct particulars. But, after all, these were all hypothetical divisions.

"उस वेद का ही आश्रय लेकर वेदज्ञ ऋषियों ने विभिन्न लक्षणों या प्रयोजनों के आधार पर परम्परागत अथवा क्रमागत नियम-विधानों के संग्रहों का निर्माण किया। स्मृति रूप में प्राप्त ये विधान-संग्रह भिन्न-भिन्न इसीलिए दिखाई देते हैं कि इन के प्रयोजनों में कुछ न कुछ अन्तर विद्यमान होता है, अथवा कहीं इनके प्रयोजन स्पष्ट और ज्ञात होते हैं, तो कहीं अस्पष्ट और अज्ञात।"

टिप्पणी :—'स्मृति' का अर्थ पूरी तरह हमें भर्तृहरि के आगामी वक्तव्यों में ही स्पष्ट होगा। परन्तु, एक बात स्पष्ट समझ लेनी आवश्यक है कि इस ग्रन्थ में वे 'श्रुति' और 'स्मृति' के रूप में व्याकरण के ही दो पक्षों की चर्चा कर रहे है। वा० १-२६, ४३, १४२, १४५, १४६, एवं १५१ में सर्वत्र इसी व्याकरणरूपा स्मृति की स्पष्ट चर्चा है। 'त्रिपदी भाष्यटीका' में वे इसे 'स्मृतिशास्त्र' कहते है। (म० त्रि० १. १. १.)। विशेष के लिए देखें—भाषा० वाक्य० पृ० ३५, ३६, अनु० ३५,।

इसी वक्तव्य से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि प्रस्तुत विषय, 'ब्रह्म' मात्र का न होकर, 'शब्दब्रह्म' का है।

तस्यार्थवादरूपाश्च निश्चिताः स्वविकल्पजाः।
एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः॥ ८॥

भिन्नान्यर्थवादरूपाः स्वविकल्पजा एव, न पुनः सत्याः—

"वेदस्यैकत्वं महत्त्वं वाऽनिश्चिन्वानैरेव पण्डितंमन्यैः स्वं स्वं बुद्धिविकल्पमाश्रित्य विविधा अर्थवादास्तस्य निश्चिताः। स्वमनसिजां शंकामेव तेऽर्थवादरूपेण स्थापितवन्त इत्यभिप्रायः। स्वविकल्पहेतोरेव तै ब्रह्मणः शब्दब्रह्मणो वा द्वैतमेकत्वं वा प्रख्यातम्। परमेतत्सर्व प्रकल्पनामात्रं प्रवादमात्रं वा वर्तते, न तु वास्तवम्। एकत्वेऽनेकत्वानुदर्शिनो जनाः कथमपि बहुज्ञा नैव मन्तव्याः।"

Depending on their own presumptions and hypotheses, many of these scholars started many a different school of thought. It was all due to the difference in their approach and interpretation. That itself explains the emergence of Monoism and Dualism, etc., though these are further subdivided according to the individual, false and fanciful whims.

"परन्तु ज्ञान और वेद के इस एकत्व और महत्त्व को न पहचानकर तथाकथित विद्वानों ने, अपने ही शंका-समाधान को सर्वस्व मानते हुए, उसके अर्थ और प्रयोजनों की विविधमार्गिता, अथवा उनकी प्रायोगिक विविधता, पर बल दिया, और इस प्रकार उन्हें 'बांट' दिया। अपनी अल्पज्ञानगत मान्यताओं को प्रधानता देने का ही परिणाम था कि 'एकत्व' और 'द्वैत' आदि की कल्पना को 'वादों' के रूप में स्थिर मान्यता मिली। परन्तु, यह मान्यता महज़ 'प्रवाद'

(बकवास) ही है। इसे 'प्रवाद' के साथ-साथ केवल 'कल्पना-चमत्कार' भी कहा जा सकता है। अर्थात्, इससे वास्तविकता का सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है।"

टिप्पणी :—यहां 'अर्थवाद','स्वविकल्पज' और 'प्रवाद' शब्दों पर अधिक विचार आवश्यक है। 'अर्थवाद' को याज्ञिकों और भाष्यकारों (वैदिक) ने समान रूप से 'मन्त्रवाद' की तुलना में, और अर्थात्मक उपयोगिता और नियोजनोपयोगिता के आधार रूप में, स्वीकार किया है। परन्तु, भर्तृहरि 'अर्थ की खींचतान' के सीधे-साधे अर्थ में ही इसे प्रयोग कर रहे है। अंग्रेज़ी का 'स्कूल' शब्द इसी का समानार्थक कहा जा सकता है।

'स्वविकल्पज' का प्रयोग 'अर्थ और प्रयोजन की खींचतान' के प्रति भर्तृहरि की अरुचि को स्पष्ट करता है। वे इन्हें व्यक्तिगत ख्याली पुलाव ही मानते हैं।

'प्रवाद' को 'अपयश', 'अफवाह', आदि अर्थों में सामान्यतः प्रयोग करते है। परन्तु, यह निश्चित है कि इसे 'वाद' का समकक्ष नहीं कहा जा सकता। 'वाद' किन्हीं 'सिद्धान्तों' पर आधारित होता है, किन्तु 'प्रवाद' का आधार उतना तर्कसंगत नहीं होता।

'एकत्व' और 'द्वैत' का अर्थ भी इसी प्रसंग में समझा जाना चाहिए। इनसे केवल 'अध्यात्म' का ही 'ब्रह्मवाद' अभिप्रेत नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से यह प्रश्न 'शब्द' की 'नित्यता-कार्यता' एवं उसकी 'अर्थ से भिन्नता-अभिन्नता' परक विचार को इंगित करता है।

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिना ॥६॥

"सर्वेष्वर्थवादेष्वविरुद्धतया स्थितेन प्रणवरूपेण संयुक्ता विद्या त्वेकपदागमैव। केवलमात्रं पदविषयमेवाधिगम्य सा उपलभ्या, नान्यथेति। पदज्ञानानन्तरमेव विद्योपलब्धिरिति भावः। पदागमं वा व्याकरणशास्त्रम्। तदाश्रिता च विद्या। तस्या उपलब्धावेव सत्या विशुद्धिरुपजायते। श्रुतिरपि—'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति'।"

If only the Grammar, or the Science of Word-forming, is mastered, the mastery over all the knowledge may very well be at hand. Therein lies the source of purity and truth of all the

knowledge, which is integral of S'abdabrahman. That is also called as 'Praṇava'. And the same is invariably accepted as in all the Schools of thought.

"परन्तु इन 'वादों' या 'प्रवादों' की अनेकता होने पर भी, तथा उनमें प्रत्यक्षतः विरोध दिखाई देने पर भी, उन सब का विषय, 'प्रणव' के रूप में या 'शब्दब्रह्म' के रूप में, एक ही रहता है। यह 'प्रणव' या 'शब्दब्रह्म' ही समस्त विद्या का विषय है। 'ब्रह्म' की उपलब्धि की साधनभूता इस विद्या की चरम शुद्धता अत्यावश्यक एवं अनिवार्य है, यदि हम चाहते हैं कि यह अपने लक्ष्य में सफल हो! 'विद्या' की यह विशुद्धि 'एक पद' की वास्तविक उपलब्धि से, या उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया की समग्र उपलब्धि से, भी सम्भव हो जाती है। अर्थात् यदि हम केवल या एकमात्र 'पद' की रचना प्रक्रिया का ही पूरा ज्ञान प्राप्त कर लें, तब हम सम्पूर्ण भाषा, और उसके माध्यम से सम्पूर्ण ज्ञान, की कार्यप्रणाली एवं कार्यप्रक्रिया का पूरा ज्ञान और अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।"

टिप्पणी :—पतंजलि ने महाभाष्य में एक पुराने परम्परा-सूत्र या 'स्मृति' को इस रूप में कहा है : 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।' इसे ही भर्तृहरि 'त्रिपदी' टीका में एक स्थान पर सुधार कर 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः यज्ञादिषु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति' के रूप में पढ़ते हैं। उसी उक्ति को यहां 'पदज्ञान' या 'व्याकरण' की उपयोगिता बताने के लिए दोहराया जा रहा है।

विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः ॥१०॥

सर्वेऽपीमे विद्याभेदास्तस्यैव शब्दब्रह्मण इत्युपस्करोति—

"लोकानां विधायकस्य तस्यैव शब्दब्रह्मण इमे विद्याभेदाः, ये ज्ञानस्य परिष्कृत्यै संस्काराय वा विस्तार्यन्ते। तस्यैव शब्दब्रह्मणोऽङ्गोपाङ्गैः सम्बद्धा इमे, तत्तदङ्गप्राधान्येन पृथक्-पृथक् कृत्वा गृह्यन्ते।"

All the branches of Knowledge are coming out of the same S'abdabrahman, which is at the root of all this show, or is the Creator of all. All these branches relate to one or the other aspect of the same Brahman, and tend to cause the refinement or development of the Knowledge.

"शब्दब्रह्म के प्रतीक उस 'वेद' (ज्ञान) के अंगों और उपांगों के रूप में नाना विद्याभेद विस्तार को प्राप्त होते हैं। स्वतः वह ज्ञान लोक-व्यवहार का विधाता है ही। उसके इन अंगभूत विद्याभेदों से ज्ञान का संस्कार ही होता है, अथवा उनसे इसकी प्रेरणा मिलती है।"

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥११॥

अधुना कतिपयैः श्लोकैर्व्याकरणस्य माहात्म्यं ज्ञापयति—

"तस्य हि शब्दब्रह्मणः संनिकटतमं संनिहितं वा हीदं व्याकरणं नाम। तपसो विविधेषु प्रकारेष्विदमेव सर्वोत्तमं प्रधानतमं च तपः वरीवर्ति। विद्वद्भिश्च तत् लघुतमोपायभूतत्वेन स्वीकृतं शब्दब्रह्मण उपलब्धये। वेदाङ्गेष्वपि तदेव प्रथमतया प्रधानतया च गण्यते।"

The Scholars think of Grammar as one most intimately related with the S'abdabrahman. One has to make laborious efforts to get access to that Brahman. But first and foremost amongst those labours is the Grammar. That is why the scholars have named it to be the First amongst the Six different organs of (Aṇgas) Veda, *i e.*, Grammar, Etymology, Astronomy, Prosody, etc. Thus Grammar becomes the shortest and surest way leading towards the S'abdabrahman.

"तभी उस 'ब्रह्म' (या शब्दब्रह्म) की सर्वाधिक संनिधि में स्थित, तथा सभी प्रकार के तपःसाधनों में उत्तम साधनभूत व्याकरण को, विद्वानों द्वारा, 'वेद' रूप 'ज्ञान' का सर्वप्रथम और सर्वप्रधान अंग स्वीकार किया गया है। अर्थात्, व्याकरण को समस्त ज्ञान का सर्वप्रधान अंग, एवं उपलब्धि-साधन, माना गया है।"

टिप्पणी :—पतंजलि इसे ही 'लघु' के द्वारा स्पष्ट करते हैं। भर्तृहरि ने उनके मत की पुष्टि 'त्रिपदी' और 'वाक्यपदीय' में स्पष्टतः की है : 'अन्य उपाय एव न संभवति' (त्रि० १-१-१) ; "तथा तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।' (वा० १-१३)।

प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः ।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ॥१२॥

"रूपात्मक एवायं खलु विभागो वाचो, यो नामाख्यातोपसर्गनिपातरूपः प्रकृतिप्रत्ययादिविभागरूपो वा विद्यते । न चैतावन्मात्रमेव वाचः प्रयोजनम् । वाच इन्द्रियातीतः परमो रसस्तु कश्चिदन्य एव तस्या आविर्भूताद्रूपात् । श्रुतिरपि—'रसो वै सः' । वाचः परमो रस एव पुण्यतमं ज्योतिः । तस्यैव ज्योतिष उपलब्ध्यै व्याकरणात्मकोऽयं मार्ग आञ्जसोऽन्धकारपूर्णो वा वरीवर्ति । अन्धकारेण दुरूहत्वं व्याकरणस्य द्योतितम् । अष्टादशतमे श्लोकेऽपि स्पष्टतरमिदमेव कथितम् ।"

Apparently the Speech seems to be divided into different Parts (of Speech). But the 'reality' or 'the thing' lies behind this facade. That becomes the object of experience alone. Therein lies the reality of S'abdabrahman. That ultimate reality (or Light) can be seen only after passing through the darkened path of the Grammar : darkened because of its analytical nature, instead of synthetical one.

"पदरूप में विभाग को प्राप्त वाणी का जो अन्तर्हित परम 'रस' है, तथा उससे उपलभ्य जो पुण्यतम ज्योति है, उसको प्राप्त करने का मार्ग यह व्याकरण ही है । और, यह मार्ग स्वतः आंजस है ।"

टिप्पणी :—'रूपविभाग' का अभिप्राय यहां 'पदभेद' और 'रूपभेद' दोनों से है ।

'रसः' और 'ज्योतिः' का प्रयोग 'ब्रह्म' के लिए, अथवा साहित्य में मान्य 'ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द' अथवा 'चमत्कार' के लिए, समान रूप से हुआ कहा जा सकता है । यहां इन दोनों प्रयोगों में विद्यमान लिंगभेद से कोई अन्य परिणाम निकालने की आवश्यकता नही है । 'तस्य' के अन्तर्गत दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है । ये दोनों एक ही तत्त्व के वाचक उसी तरह हैं, जिस तरह 'ईश्वरः', 'पुरुषः' और 'ब्रह्म' विविधलिंग होकर भी एक ही 'तत्त्व' के वाचक हैं ।

'ज्योतिः' का अर्थ 'चमत्कार' या 'वाक् द्वारा प्राप्य उपलब्धि' इसलिए उचित है कि भर्तृहरि स्वयं 'वाग्रूपता चेदुत्क्रामेत्' (वा० १-१२४) में 'प्रकाश' को 'उपलब्धि' या 'चमत्कार' का ही पर्याय मानते हैं । वा० १-१८ में 'रसः' के

स्पष्टीकरण में 'यद्वाचो रूपमुत्तमम्' एवं 'पुण्यतमं ज्योतिः' के स्थान पर 'ज्योतिः शुद्धम्' कहकर भर्तृहरि इसी वक्तव्य को अधिक स्पष्ट करते हैं।

'आंजसः' का अर्थ शब्दकोश की दृष्टि से 'प्रकाशवान्' उचित प्रतीत होता है। किन्तु, स्वयं भर्तृहरि (वा० १-१८ में) ही 'यदस्मिन्नेव तमसि' कहकर इसका अर्थ 'तम पूर्ण' कर देते हैं। उपलभ्य यदि 'प्रकाश' हो, तब उसे 'अन्धकार' के मार्ग से प्राप्त करने में महत्त्व है भी! तभी उसका सापेक्ष महत्त्व अधिक स्पष्ट होता है। वैसे भी 'व्याकरण' एक उपायमात्र ही है, साध्य नहीं। उपाय को भर्तृहरि कार्यसिद्धि के बाद त्याज्य मानते है (वा० २-३८)। व्याकरण एक 'शास्त्र' है, 'ज्ञान' नहीं। वह ज्ञानोपलब्धि का साधन अवश्य है। उसका **प्रक्रियाभेद** (वा० १-२२) उसे 'तमः' का मार्ग ही ठहराता है। पर, उसका अवलम्बन 'अबुधप्रतिपत्ति के लिए' ही अनिवार्य है। अन्यथा, 'आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्' (वा० १-४०)।

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥१३॥

"अर्थस्य प्रवृत्तिनिमित्तभूतानि सर्वाण्यपि तत्त्वानि शब्देष्वेवाश्रितानि भवन्ति। तेषां च पुनः शब्दानां तत्त्वज्ञानं व्याकरणं विना संभवत्येव न।"

Sementics is closely related, rather intricately aligned, with the outer form of the words. Meaning can be retained only in an external form of the words. But the intricacies of these can be mastered with the help of Grammar alone. Without it we can never know the reality, even about a single word.

"अर्थप्रवृत्तियों का समस्त तत्त्व शब्दों में उसी प्रकार बंधा रहता है, जिस प्रकार समस्त वृक्ष का प्रसार उसके मूल में निबद्ध होता है। और, उन शब्दों के 'तत्त्व' या 'वास्तविकता' का बोध व्याकरण के बिना सम्भव नहीं है।"

टिप्पणी :—त्रिपदी के निम्न वक्तव्य से तुलना करें: 'तेषां (शब्दानां) च ज्ञाने व्याकरणादन्यो लघूपायो नास्ति। उपायो नाम कार्यनिवृत्तिं प्रति यः कारणानां विन्यासविशेषः। तस्माद् व्याकरणं लघुरुपायः शब्दज्ञानं प्रति। अन्य उपाय एव न संभवति।' (म० त्रि० १-१-१)।

'अर्थप्रवृत्तितत्त्व का मूल' कहकर भी वे अन्यत्र इसे 'शब्दप्रवृत्तिनिमित्त' कहते हैं। देखें त्रिपदी में : 'तत्रायं व्याकरणशब्दः किं ब्रूते ? आक्रियते इत्यनेन द्वारेण शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाचिख्यासन्नुपन्यासं करोति ?' (१-१-१)। दोनों वक्तव्यों का अभिप्राय एक ही है। वा० १-१२०-१, १२७ आदि में 'शब्दतत्त्व' और 'अर्थतत्त्व' की प्रवृत्तिगत यही एकता प्रदर्शित की गई है।

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥१४॥

"यदि धर्मार्थकाममोक्षात्मिका चतुर्वर्गफलावाप्तिः काव्यस्य ज्ञानस्य वा लक्ष्यभूता स्वीक्रियते, तदा तेषु प्रकृष्टस्यापवर्गस्य द्वारमिदं व्याकरणमेव। अनेनैव हेतुभूतेन वाचो दोषाणां शोधनं भवितुमर्हति। अशुद्धोच्चारणविनियोगादिज्ञानं व्याकरणागमादेव संभवति। इदमेव शास्त्रं सर्वासां विद्यानां शोधकं पवित्रीकरणं वा। पुनाति तत्पवित्रम्। अस्मिन्नेव च सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवन्ति।"

Grammar is a doorway to the final salvation. All the distortions and wrongs of the Speech can be corrected with its help. It is the Filter or Purifier of all the knowledge. All the branches of knowledge get their obscurities clarified with the help of it alone ; it being at the root of them all.

"वाग्दोषों या वाक्प्रयोग के दोषों का चिकित्साभूत यह व्याकरण ही मोक्ष का 'द्वार', या उसकी उपलब्धि का मार्ग, बन जाता है। सभी विद्याओं में यह सर्वाधिक पवित्र रूप से प्रतिष्ठित है। तथा, यह सभी विद्याओं में प्रथम या प्रमुख होकर प्रकाशित होता है।"

टिप्पणी :—यहां 'तत्' का प्रयोग विचार्य है। 'व्याकरण' के लिए भी यह प्रयोग हो सकता है, और ब्रह्म के लिए भी।

इसका निर्णय 'द्वारमपवर्गस्य' के अर्थनिर्णय से ही सम्भव है। और, इसका हल हमें भर्तृहरि स्वयं १-१६ में देते हैं, जिसमें 'मोक्ष' की उपलब्धि के लिए 'व्याकरण' को 'अजिह्मा राजपद्धतिः' कहा गया है।

स्पष्ट है कि यहां व्याकरण का मूल प्रयोजन 'वाक्-शुद्धि' या 'संस्कार' कहा गया है, न कि शब्दरचना या रूपरचना : 'वाङ्मलानां चिकित्सितम्'।

यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः ।
तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम् ।।१५।।

"यथा सर्वप्रकारकमप्यर्थजातं शब्दाकृतिमाश्रित्यैव प्रकाशते, तया विनाऽर्थजातीनामभिव्यक्तेरसंभवात् । तथैव लोके विदितानां सर्वासां विद्यानामधिगमायैतदेव व्याकरणं पराविद्यारूपेणावतिष्ठते, तेन विना तेषां पारायणस्यासंवभात् ।"

As all the kinds of Meanings are attached to the outer forms of the words, in the same way Grammar becomes the carrier of all sorts of knowledge. Thus, it is the first and foremost of all the branches of knowledge.

"जिस प्रकार सभी अर्थाभिव्यक्तियां 'शब्दों' का आकार ग्रहण करके ही स्थिर या निबद्ध रहती है, उसी प्रकार लोकप्राप्त सभी विद्याएं 'व्याकरण' के रूप में अपना 'मूल', या 'मूलरूप', स्थिर रखती हैं। अथवा, व्याकरण सभी विद्याओं का परम धाम है ।"

भाव :—यहां व्याकरण को सभी विद्याओं का मूल इसलिए भी कहा गया है कि इसके अध्ययन के बाद सभी ज्ञान-विज्ञान समझ में आ सकते हैं, क्योंकि अन्ततः वे सभी वाग्व्यापार के विषय हैं ।

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ।।१६।।

"जीवनसाफल्यावाप्त्यै यदि किंचिदपि सोपानरूपेण भवितुमर्हति, तदा तस्य सोपानस्य प्रथमं पदाधायकं दण्डस्थानमिदं व्याकरणमेव । तत्साफल्यं चेदपवर्गरूपेण स्वीक्रियते, तदा तदपवर्गाधिगमाय व्याकरणमेव ऋजुतमं लघुतमं च मार्गजातम् । व्याकरणं तु सर्वविद्यामूलत्वात् राजद्वारमिव निगद्यते ।"

It is the first step of the ladder, leading towards the final success ; it being the discussion-place of the word-forms (Padas). Those, desirous for the attainment of final Salvation, take

recourse to it, because it is the simplest and surest way, leading towards that end.

"सफलता की सीढ़ी की पोरों में सबसे पहला 'पदस्थान' या 'पैड़' यह व्याकरण ही है। अर्थात्, जीवन की सफलता की प्रथम सीढ़ी यह व्याकरण ही है। जीवन की सफलता 'मोक्ष' के रूप में मानी गई है। उस मोक्ष के लिए अपनाए गए अन्य मार्ग अत्यन्त कठिन है। परन्तु, यह व्याकरण सर्वाधिक सीधा, और 'राजमार्ग' के समान, है।"

टिप्पणी :— चतुर्वर्ग को ज्ञान का लक्ष्य स्वीकार किया गया है। अर्थात् ज्ञान के द्वारा जीवन के ये चारों 'फल' पाए जा सकते है। 'मोक्ष' उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं कष्टसाध्य होने से उसकी उपलब्धि को ही जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया गया है। 'व्याकरण' हमारे सब संशयों और संदेहों को मिटा कर उस 'मुक्ति' की उपलब्धि हमें सहज ही करा देता है। और, पूर्वकथित रूप में सर्वाधिक 'लघु' उपाय होने के कारण वह 'राजमार्ग' ही है।

'पदस्थानम्' का प्रयोग यहां द्वयर्थक होने पर भी मुख्यतः 'सीढ़ी' या 'पैड़' के लिए ही हुआ है। वैसे व्याकरण का विषय 'पद' ही ठहरता है, 'वाक्य' तो 'परम साध्य' भले ही हो। इसीलिए इसे 'तामस' मार्ग भी कहा है।

अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति ।
छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम् ॥ १७ ॥

"अत्र व्याकरणशास्त्र एव संशयातीतो वेदात्मा मन्त्रात्मा वा छन्दसां योनिभूतां विशुद्धां छन्दोमयीं तनुं व्यष्टिरूपेण साक्षादनुभवति। तेनात्मनोऽनुबन्धं वाऽनुभवति।"

It is only through it, that the Self of the Vedas finds its real relation established with its own external physique, which is the generator of all the Vedic Hymns. Thus, it is the Grammar, which enables us to see the real nature or self of the Mantras, hidden behind their physical appearance.

"इस व्याकरण के द्वारा ही संदेहों और विरोधों से परे स्थित ज्ञानराशि अथवा वेद का 'आत्मा' (अर्थात् वास्तव भाव) समस्त ज्ञानराशि अथवा वेद की

प्रकाशनकारणभूता छान्दसी 'काया' के शुद्ध रूप का विवेचन और विश्लेषण (=अनुदर्शन) कर पाता है।"

टिप्पणी :—'अनुदर्शन' और 'अनुशासन' का व्याकरण के प्रयोजन अथवा हेतु की दृष्टि से एक सा ही महत्त्व है।

'तनु' इसलिए कि व्याकरण का विषय प्रयुक्त पदराशि होने से 'छान्दस काया' ही उसके सहारे विवेचनीय ठहरती है।

प्रत्यस्तमितभेदाया यद् वाचो रूपमुत्तमम् ।
यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते ॥ १८ ॥

"ध्वनिप्रकाशिता वाक् प्रकृतिप्रत्ययादिभेदेन नामाख्यातादि-विभागेन वा खण्डोपचितेव विभाति। तस्याः शुद्धं स्वरूपं तु सर्व-विभागातीतमेव वरीवर्ति। तच्च स्वरूपमुत्कृष्टतममेवास्ति। शुद्ध-ज्योतिरिव वाचस्तद्रूपमस्मिन् व्याकरणात्मके तमसि ह्येवान्तर्हितम्, तत्रैव च तत्प्रकाशतामुपयाति। 'विवर्तत' इत्यनेन मन्थक्रियासूचन-मपि जायते। जटिलो हि विश्लेषणात्मको व्यापारो व्याकरणस्य। तत एव शुद्धं ज्योतिरुद्भवति।"

After going through the difficult course of Grammar, we realise that the Real Light is hidden behind the external form. That light is the real and best form of the Speech.

"पदभेद और प्रयोगभेद से हीन 'वाक्' का जो उत्कृष्टतम रूप है, तथा जो इस व्याकरणरूपी तमस् के भीतर से ही शुद्ध ज्योति के रूप में स्पष्ट होता है—"

टिप्पणी :—यहां से २२ वें श्लोक तक 'कुलक' के रूप में 'शब्दब्रह्म' की चर्चा है। 'यत्' के प्रयोग द्वारा उसी का इंगित यहाँ अभिप्रेत है।

'व्याकरण' को 'तमस्' कहने का कारण १२वें श्लोक में स्पष्ट कर आए हैं। 'ज्योति' और 'प्रकाश' शब्दब्रह्म ही है, यह भी वहीं स्पष्ट कर आए हैं।

वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिर्व्यापारदर्शनम् ।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते ॥ १९ ॥

अधुना चतुर्णां कलापकेन व्याकरणादेव तद्ब्रह्माधिगम इति कथयति—

"सा मूर्तिः विकृतिमूलकं व्यापारविचारं समतिक्रान्ता ब्रह्मरूपिणी वर्तते । प्रकाशरूपं तदेव आलोकतमसोः पारगतं विद्यते, यदुपासनीयं सर्वेषाम् ।"

S'abdabrahman, whose real form lies behind the formative and reformative business, *e.g.*, sonic expression or analytical consideration, etc., and which is the real adorable Light, is far more superior to worldly dual of Light and Darkness,

"आत्मा यदि 'प्रकृति' है, तब आकार अथवा भौतिक व्यापार 'विकृति' से जात ही कहे जाएंगे । परन्तु 'शब्दब्रह्म' प्रकृति का विषय या तत्स्वरूप होने से उस 'विकृतिप्रसूत' व्यापारदर्शन से परे की वस्तु है । वह उस प्रकार का प्रकाश है, जो वैकृत आलोक और तमः से परे का है । उस 'अतीत' प्रकाश की ही उपासना (यहां) अभिलषणीय होती है ।"

टिप्पणी :—'मूर्तिः व्यापारदर्शनम्' और 'मूर्तिव्यापारदर्शनम्' के पाठभेदों में से दोनों ही स्वीकार्य हो सकते हैं; यद्यपि प्रथम पाठ से व्याकरणात्मक प्रक्रिया का निर्वाह अधिक अच्छी तरह हो जाता है । अर्थ में दोनों का समान ही प्रभाव और योग है ।

प्रथम भाग में उसी तत्त्व को 'स्त्रीलिंग' के द्वारा, और 'द्वितीय' में उसी को 'यम्' के द्वारा पुंलिंग में, प्रयुक्त किया गया है। वैसे 'ब्रह्म' का स्वतः प्रयोग 'नपुंसक' में स्वीकार किया गया है । यह बात संदेहजनक लग सकती है । परन्तु, विविध पक्षों को विविध लिंगों में अभिव्यक्ति देना, या 'उपमान' के 'लिंग' को प्रधानता देना, वाग्व्यापार के दृष्टिकोण से अनिवार्य है ।

यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः ।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत् ॥ २० ॥

'तस्मिन् ब्रह्मण्युपलब्धे वचसां व्यापारोऽपि विनिवर्तते । वाचस्तु तदाऽक्षरस्मृतेः संकेतिकामात्रं भूत्वावतिष्ठन्ते । तस्मिन् संगमे तेषां प्रतीतिः प्रतिबिम्बवदेव । शब्दानां महत्त्वं सम्बन्धं च तदा भूतकालिकं दूरवर्तीव च प्रतीयते ।

Unto that S'abdabrahman, the external forms of the speech remain important only symbolically, as if those were merely the signs to remind the existence of Akṣara. Or, they seem to be the shadows only, though originally they were related with the word-forms, no doubt.

"जिस शब्दब्रह्म में वाक् अपने प्रत्यक्ष रूप के महत्त्व को लीन कर देती है, अर्थात् जिसमें लीन होकर वह व्यक्तित्व से हीन होकर निमित्तभूत चिह्नों के रूप में ही रह जाती है, वहां उसका 'शब्दप्रकाशित' रूप तिरोहित-सा होकर 'वाक्' को अक्षर की स्मृति के 'प्रतिबिम्ब' मात्र के रूप में परिवर्तित कर देता है। मानो 'शब्दाकृति' उसकी वास्तविकता न थी; और 'ब्रह्म' के महासागर में उसकी यह लीनता और व्यक्तिहीनता ही सत्य है।"

टिप्पणी—भाव यह कि शब्दब्रह्म की उपलब्धि, शब्दाकारों से नहीं, उनमें अन्तर्हित भावना की उपलब्धि से होती है।

तुलनीय गीता के 'यत्र वाचो निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम' से।

'अक्षर' का प्रयोग यहां प्रथम श्लोक में आए 'यदक्षरम्' के प्रकाश में ही करना चाहिए। 'शब्दपूर्वेण' का अर्थ 'शब्द है पूर्वरूप जिसका' के रूप में होना चाहिए।

अथर्वणामङ्गिरसां साम्नामृग्यजुषस्य च।
यस्मिन्नुच्चावचा वर्णाः पृथक्स्थितिपरिग्रहाः ॥२१॥

'तद् ब्रह्म प्राप्यानुभूय वा चतुर्णां वेदानामपि भेदजातं विलुप्यते। तत्स्थानि विविधानि वर्णनिचयानि हि तदा तेषां पृथक्तां सूचयन्ति। अन्यथा तेषां पृथक्स्थितिपरिज्ञानं तस्मिन्महार्णवे संभवत्येव न।"

And, unto that reality all the four divisions of Vedas appear to be loosing their own identity, though still we can recognise them as separate and distinct from each other; only because of their different phonemic arrangements.

"आङ्गिरस अथर्ववेद के, ऋग्वेद के, सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्रों में प्रयुक्त उच्चावच वर्ण, विषयभूत जिस 'ब्रह्म' में रहकर ही, अपनी तथाकथित पृथक् स्थिति को रख पाते हैं, अथवा निपातादि के रूप में प्रयुक्त होते हैं;"

टिप्पणी—अर्थात् वेदों के मन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों के वर्णों की पृथक् स्थिति का भी यही महत्त्व है कि वे 'शब्दब्रह्म' की उपलब्धि, और अपने प्रधान विषय में अर्पण, के प्रति निष्ठित हैं। अन्यथा, अर्थवत्ता की दृष्टि से उनका कोई वैयक्तिक महत्त्व नहीं है। 'अर्थ की समग्रता' अथवा 'प्रधानता' की बात 'वेद' के विषय में भी उसी तरह सत्य है।

यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥ २२ ॥

'यच्च शब्दब्रह्म व्याकरणादिप्रक्रियाभेदैरन्यथा वा, एकमपि सदनेकधा प्रविभज्यते; रूपविकारहेतोर्यस्य चोपलब्धिरतिदुरूहा जायते, तदेव व्याकरणशास्त्राधिगमानन्तरं ससुखं लभ्यते। व्याकरणेनैव तस्य परब्रह्मणः सत्यं वास्तवं च स्वरूपं ज्ञायतेऽधिगम्यते च।"

And, that S'abdabrahman is supposed to be further divided due to the grammatical or other types of analytical processes.

That Brahman is realised and obtained after knowing this Grammar only."

"और, जो 'ब्रह्म' (शब्दब्रह्म) तत्वतः 'एक' होकर भी व्याकरणादिक (अथवा दार्शनिकादि) प्रक्रियाओं के कारण, अथवा व्यावहारिक आवश्यकतादि के कारण, 'बहु' के रूपों में या बहुत रूप में विभक्त मान लिया जाता है।"

वही परम ब्रह्म इस 'व्याकरण' में आकर ही, या इसके माध्यम (उपाय) से ही, प्राप्य बन जाता है, या पा लिया जाता है।"

टिप्पणी :—अर्थात्, शब्दब्रह्म की वास्तविक उपलब्धि व्याकरण के माध्यम से ही हो सकती है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' की वैदिक श्रुति यहां अनुगुंजित हैं। 'प्रक्रियाभेदैः' के द्वारा अब तक के सारे वक्तव्य का 'विषय' या 'अधिकार' भी स्पष्ट हो जाता है।

'प्रविभज्यते' का शाब्दिक अर्थ लेने पर भी 'प्रकृत्य' अर्थात् 'बलात्' विभाजन की बात आती है। अर्थात्, ऐसा विभाजन अस्वाभाविक और अवांछनीय है।

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः ।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥२३॥

शब्दविषयकविचारस्यारम्भे शब्दार्थसम्बन्धस्य नित्यतामुद्घोषयति—"महर्षिभिः सूत्रकारैः भाष्यकारैश्च शब्दार्थसम्बन्धाः सहजा नित्याश्च पठिता उद्घोषिताश्च । 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' भाष्योक्तवार्तिकादिवत् ।"

The great Seers have invariably said that the relationships between the words and the meanings are *eternal*, as well as *everlasting*. This fact has been repeated by the other Grammarians and Commentators as well.

"महर्षियों ने, एवं सव्याख्यान सूत्रों अथवा उनके भाष्यों के प्रणेताओं ने, शब्दार्थसम्बन्धों को 'नित्य' ही माना है । या, ऐसा पाठ किया है ।"

टिप्पणी—कात्यायन और पतंजलि द्वारा प्रयुक्त वार्तिक 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' पर यह उपस्थापनारूप टिप्पणी है ।...यास्क ने 'नित्यं ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः, के द्वारा इसे प्रथम और प्रमुख मान्यता दी थी ।...'समाम्नाताः' या 'तत्राम्नाताः' के अर्थ में 'पाठभेद' से कोई अन्तर नहीं आता । यहां इस विवाद में जाने की आवश्यकता नहीं है कि यह 'नित्यता' शब्द, अर्थ और सम्बन्ध की है, या शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध की ! इसका विवेचन यथास्थान होगा ।

विशेष—यहां 'अनुतन्त्र' और 'भाष्य' का बहुवचनान्त प्रयोग चिन्त्य है । 'सूत्रों' से बाद क्रम में 'अनुतन्त्र' का उल्लेख होने से 'कात्यायनकृत वार्तिक' एवं तद्विध अन्य ग्रन्थों की ओर इंगित लक्षित होता है । 'भाष्याणां' का बहुवचनान्त प्रयोग इस सत्य को दोहराता है कि भर्तृहरि से पूर्व अनेक भाष्य प्रचलित थे, और वे उनसे परिचित थे । 'रावण' के 'भाष्य' की चर्चा हेलाराज ने 'पतंजलिकृत भाष्य' के समान ही आदर से की है । 'पर्वत' के भाष्य का अथवा उसकी किसी व्याख्या का भी उल्लेख भर्तृहरि करते हैं । परन्तु इसके साथ ही वे यह भी स्पष्ट करते हैं : 'यः पतंजलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः' । अर्थात्, पतंजलि के बाद उसी के अनुकरण पर जो प्रयत्न हुए, उनमें पतंजलि की भावना को 'भ्रष्ट' कर दिया गया । यहां तक यह 'भ्रष्टता' बढ़ी कि बाद में पतंजलि के भाष्य का प्रचलन ही बन्द हो गया ।

अवधेय—लगता यह है कि भर्तृहरि को शब्द, अर्थ और सम्बन्ध तीनों की ही चर्चा व्यक्तिशः अभिप्रेत है। अगले तीनों श्लोकों से भी यही स्पष्ट होता है।

अपोद्धारदार्था ये चार्थाः स्थितलक्षणाः ।
अन्वाख्येयाश्च शब्दा ये ये चापि प्रतिपादकाः ॥२४॥
कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः ।
धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु ॥२५॥
ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिताः ।
स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम् ॥२६।

के ते शब्दा अर्थाः सम्बन्धाश्च ये ऽस्मिन् शास्त्रे ह्युपवर्णिता, इत्यालोचयति—"सन्ति हि द्विविधा अर्थाः—अपोद्धरणक्रियाद्वारा बलात् पृथक्कृत्योपलब्धा ज्ञाता वा पदानामर्थविशेषाः; धातुप्रत्ययादि-विभागहेतुना लोकप्रसिद्धिहेतोर्वा स्थितलक्षणा अर्थाश्च ।

"सन्ति च द्विविधाः शब्दाः—अन्वाख्येया निरुक्तियोग्या व्याकरणनिर्मिता वा शब्दाः ; अर्थविशेषप्रतिपादकाः शब्दान्तर-प्रतिपादका वा शब्दाश्च ।

"सन्ति हि सम्बन्धा अपि द्विविधाः—कार्यकारणाभावेन स्थिताः; योग्यताहेतोश्च स्थिताः। तत्रापि पुनर्द्विविधत्वम्—धर्म-स्याङ्गभावेन स्थिताः सम्बन्धाः ; प्रत्ययात्मकत्वेन च स्थिताः सम्बन्धाः। ते च पुनः साधुष्वसाधुषु च शब्देषु समानरूपेण स्थिताः भवन्ति ।

"इमे विविधाः शब्दार्थसम्बन्धा अस्मिन् शास्त्रे विशिष्टलिङ्गैः संज्ञाभिर्वा वर्णिताः सन्ति। तेषां सर्वेषामेव रहस्यमत्रोद्घाट्यते। परं शास्त्रांगतया स्मृत्युपलक्षणभूतास्तेषु केचिदेव विधिपूर्वकं सांगो-पांगं च वर्ण्यन्ते ।"

"There are two kinds of meanings : Etymologically or Grammatically derived ones, and Fixed ones, i. e. based on roots etc.

"There are two kinds of words as well: those which derive their meanings from Grammar or Etymology, and those which have fixed meanings.

"Relationship is also of two kinds : based on the Cause and Effect factor, and based on the natural capability. These, again, may depend on the behaviour, or on the pratyaya (suffix). This is equally true in the case of Correct or Incorrect words.

"All these Words, Meanings, and Relationships are described in this Grammar, directly or indirectly (either by symptoms or by names). But it is difficult to explain them all, in their details. That is why, only a few representatives of each one of them are described here in all their details, so that the 'tradition' may be explained thoroughly."

"अर्थ दो प्रकार के है : अपोद्धार या बलपूर्वक पृथक्करण की प्रक्रिया द्‌वारा गृहीत 'पदार्थ', और किन्हीं लक्षणों के रूप में 'स्थिरीभूत अर्थ' ।

"शब्द भी दो प्रकार के हैं : व्याकरणात्मक या निरुक्तिजन्य 'व्याख्या की अपेक्षा रखने वाले शब्द' और 'विशिष्ट अर्थ को वहन करने वाले शब्द' ।

"सम्बन्ध भी दो प्रकार के हैं : जिनमें कार्यकारणभाव खोजा जा सकता है, तथा जिनमें सहज योग्यता अन्तर्हित होती है । ये भी द्विविध रहते हैं : 'धर्म' के अंग बनकर, या 'प्रत्यय' के अंग बनकर । ये सम्बन्ध साधु और असाधु शब्दों में समान रूप से स्थित रहते हैं ।

"इन सब को उनके विशिष्ट चिह्नों के द्वारा अथवा, अपनी विशिष्ट संज्ञाओं के द्वारा, इस व्याकरण शास्त्र में वर्णित किया गया है । पर शास्त्रानुसार उनका सब पूर्ण विवेचन सम्भव नहीं है । इसीलिए परम्परा और नियमविधान के परिज्ञान के लिए उनमें से कुछ एक प्रतिनिधियों का ही पूरा विश्लेषण यहाँ किया जाता है ।"

टिप्पणी—'अपोद्धारपदार्थाः' का प्रयोग 'अर्थाः स्थितलक्षणाः' के समानान्तर किया गया है । 'स्थितलक्षण' को हम 'रूढ़ अर्थ' भी कह सकते हैं, जबकि 'अपोद्धारपदार्थ' का अर्थ 'यौगिक अर्थ' के रूप में बैठता है । 'अपोद्धार' शब्द स्वयं 'खींचतान' या 'जबरदस्ती' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

'अन्वाख्येय' और 'प्रतिपादक' भी दो समानान्तर शब्दकोटियों के लिए व्यवहृत संज्ञाएं हैं । अर्थ को दो कोटियों के समान 'शब्दों' की भी दो कोटियां

होती हैं। 'प्रतिपादक' वह शब्दकोटि है, जो किन्हीं रूढ़ार्थों को वहन करके, या बिना किये भी, अन्यान्य द्रव्यों की सकेतिका होती है। 'अन्वाख्येय', इसके विपरीत, तथाकथित पदार्थ या शब्दार्थ को ध्वनित करने वाली शब्दकोटि है।

'सम्बन्ध' अनेक प्रकार के हो सकते है। यहां उन सबका समाहार उनकी दो प्रकार की स्थिति के माध्यम से किया है। ऐसे सम्बन्धों की व्याख्या या तो 'कार्यकारण' की विवेचना के द्वारा की जा सकती है, या फिर उन्हें स्वाभाविक 'योग्यता' या सामर्थ्य द्वारा प्रसूत माना जा सकता है।

'लिंगैश्च स्वशब्दैश्च'—इसके द्वारा भर्तृहरि यह कहना चाहते हैं कि व्याकरण में हर शब्द की रचनाप्रक्रिया दोहराने की आवश्यकता नही होती, न ही हर अर्थविधा, शब्दविधा और सम्बन्धविधा को व्यक्तिशः उस विस्तार से लेने की जरूरत होती है। इन सबका ही उल्लेख ऐसे सामान्य रूप से किया जाता है, जिससे सैद्धान्तिक रूप से हर बात स्पष्ट हो जाए। सिद्धान्ततः स्पष्ट होजाने पर ही किसी वस्तु के व्यक्तिरूप 'स्मृति' के विषय बन पाते हैं।

शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।
अर्थप्रत्यायनाऽभेदे विपरीतास्त्वसाधवः ॥२७॥

अधुना शब्दानां साधुत्वासाधुत्वविषयं स्पृशति—"धर्मस्य साधनभूताः साधुशब्दास्तु ते सन्ति ये शिष्टैः लोकपरम्पराविश्लेषणेन व्याकरणानुशीलनेन वा स्थितलक्षणा सिद्धा वा स्वीक्रियन्ते प्रयुज्यन्ते च। अर्थप्रत्यायनदृष्ट्याऽसाधवोऽपि पुनरभिन्ना एव साधुभ्यः। परन्त्वागमासिद्धत्वात्तेऽसाधव एव मन्यन्ते।"

The Scholars use only those words in their daily parlance, which are proved as *established* by the popular usage and are supposed to be *correct* by the grammatical tradition. For them, 'incorrect' words are those, which are at variance from the aforesaid, and which still give the cognition of the similiar meaning.

"शिष्ट लोगों के लिए जब कभी अर्थप्रत्यय की दृष्टि से 'साधुत्व-असाधुत्व' का संशय उठ खड़ा होता है, तब साधुत्व का निर्णय वे इस बात से करते हैं कि 'आगम', अर्थात् लोकागम और परम्परा, से 'सिद्ध' शब्द कौन-सा है? जो शब्द

लोकप्रयोग के विश्लेषण की इस कसौटी पर सही नहीं उतरते, या विपरीत रहते है, उन्हें 'असाधु' कहा जाता है; भले ही अर्थ का प्रत्यय उनसे भी 'साधु' शब्दों की ही भांति होता है।"

टिप्पणी—'शिष्ट' का अभिप्राय 'अनुशासनप्रिय' या 'शिक्षित' के रूप में है : परम्परा से अभिज्ञ !

'आगम' का अर्थ पहले ही 'लोकागम' या 'परम्परा के ज्ञान और विश्लेषण' के रूप में किया जा चुका है।

'सिद्ध' का प्रयोग अन्यत्र भर्तृहरि ने 'सत्त्व' के अर्थ में भी किया है। 'साध्य' और 'सिद्ध' की वह तुलना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। यहां तो पाणिनीय 'निपातनात् सिद्धम्' के सिद्धान्त के अर्थ में 'सिद्ध' को, प्रसिद्ध या स्थापित के रूप में, स्वीकृत किया गया है।

'साधु-असाधु' का निर्णय पाणिनीय या अन्य किन्हीं सूत्रों से नहीं होता, बल्कि लोकपरम्परा, प्रसिद्धि, आदि के आधार पर होता है।

'अर्थप्रत्यायनाभेदे' में 'अभेद' की बात पर अधिक बल दिया गया है। अर्थात्, अर्थात्मक अभिन्नता होने पर भी इन दोनों स्थितियों का निर्णय लोकपरम्परा अथवा प्रसिद्धि आदि के द्वारा ही होता है।

नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्थाऽनित्यतोच्यते ॥ २८ ॥

नित्यो वा कार्यो वा शब्दः प्रथममासीदिति विवादो निरर्थक :—

"नित्येषु कार्येषु वा शब्देषु कः प्रथमः, कदा वा तेषां प्रथमं प्रचलनमभूदित्यादिरविशङ्कं न हि ज्ञायते। यथा प्राणिषु पितापुत्रादिव्यवस्था व्यक्तिसापेक्षतया नित्या, तथैव शब्दविषयेऽपि नित्यत्वकार्यत्वादिव्यवस्था व्यक्तिसापेक्षतयैव वेदितव्या। शब्दः क्वचिन्नित्योऽन्यत्र कार्यो भवति, क्वचिदन्यथैव च संभवति।"

We cannot say definitely, whether the speech phenomenon is started from the 'eternal or root words', or from the 'formulated words'. But we are sure that both of these aspects, *i.e.*, eternal and usable, are essentially integrated in the process of expression. This can be explained very well with the example of

all the animated beings. We are not sure about their order. But, only because of this fact their presence or existence cannot be denied. So are the 'Eternal' and 'Formulated' (usable) forms of the words : interdependent on each—other.

This relationship is mutual and interdependent. It is *eternal.*

"**नित्य और कार्य**' में से शब्द की वास्तविकता का निर्णय करते हुए हमें यह न भूल जाना चाहिए कि साधु और असाधु शब्दों के आरम्भ आदि के विषय में हम कुछ निश्चय से नहीं कह सकते। शब्द 'नित्य' हो या 'कार्य', उसका प्रचलन 'साधु' रूप में माना जाए या 'असाधु' रूप में, पर चरम सत्य यह है कि साधु-असाधु अथवा नित्य-कार्य शब्दों के प्रचलन और प्रयोग की यह व्यवस्था अनिश्चित ही है। अर्थात्, शब्द का प्रयोग तो होता ही है और वही नित्य है, चाहे उसका सत्य-निर्णय एक रूप में करें, या दूसरे रूप में, और भले ही उसका आरम्भ कैसे भी हुआ हो !"

टिप्पणी—'तेषाम्' का अर्थ सामान्यतः 'शब्दानाम्' होना चाहिए। पर, यहां हमने प्रकरण का ध्यान रखते हुए 'साधु-असाधु' कहकर उसी को अधिक स्पष्ट किया है।

नानर्थिकामिमां कश्चिद् व्यवस्थां कर्तुमर्हति ।
तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः ॥ २९ ॥

एतावत्यपि स्वभाविकी नित्या च नित्यकार्यादिव्ययस्था नान्यथाकर्तुं पार्यते—"न कश्चिदपि हीमां शब्दव्यवस्थामन्यथाकर्तुं निरर्थकां वा कर्तुं शक्नोति। नित्यकार्यव्यवस्थाया महत्त्व विदित्वैव शिष्टैः साधुत्वनिर्धारणार्थं स्मृतिरूपेण लोकागमो हि विश्लिष्य व्याकरणरूपेण निबद्धः।"

No one can alter this pattern, or render it meaningless. That is why the trained and desciplined people try to formulate 'Smṛtis' or 'laws' to ascertain the 'correctness' of the words.

"शब्दों के इस प्रकार के प्रचलन और प्रयोग की इस व्यवस्था को अर्थहीन, महत्त्वहीन, या निरर्थक नहीं कहा जा सकता। यह व्यवस्था किसी मनुष्य द्वारा

निर्मित नहीं है। इसीलिए इसे कोई बिगाड़ भी नहीं सकता। अर्थात् साधु या असाधु रूप में शब्दों के प्रचलन और प्रयोग पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं किया जासकता। इसलिए शिष्ट लोग इस प्रकार के अनाहत और अबाध प्रयोग में 'साधुत्व-असाधुत्व' के निर्णय के लिए 'तद्विषयक स्मृति' का सहारा लेते हैं। या, वे उसको निबद्ध करते है।"

टिप्पणी —'स्मृति' की अधिक व्याख्या सातवें श्लोक में की जा चुकी है। अर्थात्, "व्याकरण एक 'निबद्ध स्मृति' ही तो है।"

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम् ॥ ३० ॥

अधुना कतिपयैः श्लोकैरागमस्य महत्त्वं ज्ञापयति—"कोऽपि धारणात्मको नियमो धर्माख्यः लोकपरम्परयाऽऽगमेन वा पुष्टः स्थिरतां मान्यतां च नैव लभते। तस्याऽऽधाररूपेणागमस्य स्थितिरपरिहार्या। ऋषीणामात्मसाक्षात्कारजनितमपि ज्ञानमिममागममेवाश्रित्यावतिष्ठते। कथंचिदपि तदागमेन विरुद्धं नैव संभवितुमर्हति।"

Logic alone does not help to preserve the 'Social behaviour-pattern' or Dharma. It is reatined and preserved only if the logic gets support from the popular and traditional usage (*i.e.*, Āgama). This confirmation, from popular background, is inescapable even for the knowledge of the great Seers.

"यदि 'आगम' का आधार न हो, तो केवल 'तर्क' के सहारे से 'धर्म' टिका भी नहीं रह सकता। सत्य तो यह है कि ऋषियों का भी ज्ञान, और उनकी उपलब्धि 'आगम' के आधार पर ही टिके होते हैं, या उसके अनुसारी होते हैं।"

टिप्पणी :—यहाँ 'आगम' और 'तर्क' का विरुद्धार्थक प्रयोग हुआ है। 'तर्क' पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर बढ़ता है, पर 'आगम' का आधार ही 'पूर्व' के विश्लेषण और उसकी मान्यता पर निर्भर है। बाद में भर्तृहरि 'तर्क' की सापेक्ष हीनता 'तर्कश्चक्षुरपश्यताम्' (वा० १.१३६) के द्वारा कहते हैं। अगले श्लोक में भी 'तर्क' को हीन-शक्ति बताया गया है।

धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः ।
न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते ।। ३१ ।।

"लोकव्यवहारव्यवस्थापकस्यास्य धर्मस्य येऽप्रतिहताः कालेनाविनष्टा वा पन्थानो लोके व्यवस्थिताः प्रतिष्ठिताश्च ज्ञायन्ते, तेषां लोकप्रसिद्धिमेवोपलक्ष्य कोऽपि तर्कमात्रेणैव तान् बाधितुं न प्रयतते। समर्थो वा नैव भवति तथाहेतुके व्यापारे ।"

And the different ways of the 'Dharma' or 'Social Behavior' also cannot be countered by any logic, if those are established by an unbroken tradition and are current in the popular usage.

"धर्म के जो अनेक पथ अनाहत पम्परासे व्यवस्थित हैं, वे अत्यधिक लोकप्रसिद्ध हैं । उन्हें हर कोई जानता है । इसी कारण 'तर्क' का सहारा लेकर कोई उन्हें असत्य या अन्यथा सिद्ध नहीं करता, या नहीं कर सकता ।"

टिप्पणी :—यहीं ४० वें और ४१ वें श्लोक में भर्तृहरि इसी बात को फिर से दोहराते हैं।

अवस्थादेशकलानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु ।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ।। ३२ ।।

"शब्देष्वन्तर्हिता अवस्थादेशकालादिशक्तयोऽर्थनिर्धारिण्यः। पदेपदे तेषां भिन्नत्वाल्लोकप्रसिद्धेरपि भिन्नता दरीदृश्यते। अतः कस्यापि शब्दस्य नूतनां भावनां, शब्दानां विविधान् वा भावान् स्वानुमानमात्रेणैव कल्पनामात्रेण वा लोकप्रसिद्धिर्नैवोपागच्छति। लोकप्रसिद्धिरतीव दुर्लभा, देशकालादिव्यवच्छिन्ना च ।"

There are different factors, like place, situation and time, which ascertain the nature of the things. Their nature cannot be ascertained merely by the hypothetical conjectures. Popular currency also is attained due to these factors only, and not due to any hypothetical conjecture.

"अवस्था, देश और काल के भेद से भिन्न शक्तियों के रहते हुए केवल अनुमान के बल पर भावों की पहचान, अथवा उनका प्रसिद्धिनिर्धारण, अत्यन्त दुर्लभ है। अर्थात्, भावों को सदा सर्वथा और सर्वत्र 'एकसा' निश्चित नहीं माना जा सकता। कारण, कि उनका अस्तित्व और उपयोगिता अवस्था, देश और काल पर निर्भर करते है।"

टिप्पणी :—यहां 'अनुमान' और 'वास्तविकता' (प्रयोग) की उपयोगिता में अन्तर बताया गया है।

निर्ज्ञातशक्तेर्द्रव्यस्य तां तामर्थक्रियां प्रति।
विशिष्टद्रव्यसम्बन्धे सा शक्तिः प्रतिबध्यते ॥ ३३ ॥

कथं देशकालादयो विशिष्टार्थं प्रतिबध्नन्ति, स्पष्टीकरोत्येतत्—"प्रसिद्धार्थेऽपि सति क्वचिद् द्रव्यस्य प्रसिद्धेन शब्देन सम्बन्धो नैव दृश्यते। कारणं चेदं यद् विशिष्टैरन्यैर्द्रव्यैः सह सम्बन्धे सति, विशिष्टार्थाभिधानं तेन शब्देनाभीप्सितं भवति। तथाभूते सति तस्य पूर्वार्थनिर्धारिका प्रसिद्धा शक्तिरुपरुध्यते, अन्ययोगेन चान्यार्थ एव स्पष्टीभवति। अयं च शक्तेः प्रतिबन्धः विशिष्टार्थप्रकाशनं प्रत्येव वर्तते।"

Generally we know the denoting power of a thing towards some particular meaning or the other. But when someone uses it in connection with another particular thing, then its generally known power is hindered, and the thing then denotes a new meaning, quite different from the previous one. It means that different factors play a major role in ascertaining the meaning of a particular word, in a particular reference.

"किसी प्रसिद्ध द्रव्य की शक्ति भी प्रायः हमें ज्ञात रहती है। किन्तु जब किसी क्रियाविशेष के प्रसंग में (या अर्थक्रिया के प्रसंग में) उनका सम्बन्ध, उसके अभिनिष्पादन में, अन्य किसी द्रव्य के साथ होता है, तब उस विशेष द्रव्यसम्बन्ध के लिए उसकी वह ज्ञात शक्ति महत्त्वहीन या निरर्थक हो जाती है। इसीलिए अनुपयोगिता के कारण उसका 'प्रतिबन्ध' हो जाता है।"

टिप्पणी :—एक द्रव्य में अनेक शक्तियां रहती हैं, किन्तु उन सब का

उपयोग सर्वत्र या सब क्रियाओं के सम्बन्ध में नहीं होता। किसी क्रिया के निष्पादन में उसकी एक शक्ति कार्य करती है, तो दूसरी क्रिया के प्रसंग में उसकी दूसरी शक्ति कार्य करती है। विशेषकर, जब किसी क्रिया के निष्पादन में उस द्रव्य का संबन्ध किसी अन्य विशिष्ट द्रव्य से हो जाता है, तब उस पहले द्रव्य की केवल वही शक्तियां सामने आती हैं, जिनका योग उस द्रव्य के सहयोग में उस क्रिया के निष्पादन में हो रहा होता है। स्पष्ट है कि उसकी अन्य शक्तियां, उस प्रसंग में, स्वतः ही प्रतिबद्ध हो जाती हैं।

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरभिधातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते ॥ ३४ ॥

अनुमानमात्रेणार्थप्रसिद्धिरसंभवा। इत्येव पुनः विस्तारयति—"अनुमातारश्चेन्महता यत्नेन कस्यापि शब्दस्य कांचिन्नवीनार्थतां प्रतिपादयेयुस्ततस्तस्य दत्तावधानैरन्यैः स्वीकरणं स्वतःसिद्धं नैव जायते। अर्थज्ञानाय यत्नवन्तस्तु लोकागममनुसरन्त एव तस्याभिप्रेतं ग्रहीष्यन्ति। अतोऽन्यत्कथितमन्यदेव च गृहीतं भविष्यति।"

If hypotheses or conjectures be the criteria in determining the meaning of the words, then those 'intended meanings' of the words ought not to be thwarted by the dedicated scholars. But hypothetical meanings do not exist for them, because they understand the meaning of those words according to their own standards. Both the situations, thus, become far-stretched from each other.

"कुशल प्रयोक्ता अथवा अनुमाता अपने प्रयोगचमत्कार द्वारा चाहे अपने अनुमत अथवा अनुमित अर्थ को कितने ही यत्न से प्रयोग करें, परन्तु कृतनिश्चय ग्रहीता उस शब्द को अन्यथा ही ग्रहण करता है। इस प्रकार 'कहा कुछ और, सुना कुछ और' वाली बात हो जाती है। और, अर्थ कहीं का कहीं पहुंच जाता है।"

टिप्पणी :—केवल 'अनुमान' का प्रयोग भाषा को किस प्रकार 'भ्रमों' की उत्पादिका बना देता है, यही बात यहां स्पष्ट की गई है। प्रसिद्धि का आधार उसका प्रयोगबाहुल्य (या अभ्यास) है। 'अनुमान' प्रसिद्धि या अभ्यास का समादर करके नहीं बढ़ता।

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते ।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम् ॥ ३५ ॥

कथं पुनर्लोकप्रसिद्धेः प्रयोगशुद्धतायाश्च परिज्ञानं संभवतीत्याह—"प्रयोगपौनःपुन्यादभ्यासाद्वा शब्दार्थसम्बन्धज्ञानं प्रयोगज्ञानं च परैरसमाख्येयमनालोच्यं वा जायते । नैवानुमानिकमात्रमिदं तथा भवनि । यथा हि मणिकाराणां रौप्यविदां वा कृते तत्तच्छुद्ध्यशुद्धि-परिज्ञानं स्वाभाविकं भवति, न च केवलमनुमानाश्रितमात्रमेव, तद्व-देव वाग्विदामपि तज्ज्ञानं स्वाभाविकमेव नान्यथा ।"

This process of deriving the meanings becomes foolproof and unobjectionable only with persitent training and repetition. For a jeweller or a goldsmith, the knowledge of purity is not the subject of mere supposition. Rather, this kind of knowledge is but natural for them.

"कोई भी वस्तु अभ्यास के बाद ही आपत्तिहीन रूप में प्रयोज्य हो पाती है । यहां तक कि मणि, रजत, आदि के विशेषज्ञों के लिए उनकी पहचान भी, 'अनुमान' पर न टिकी होकर, 'अभ्यास' पर ही टिकी रहती है ।"

टिप्पणी :—'अनुमान' और 'अभ्यास' का यह अन्तर पूर्वकथित ही है । कोई भी विज्ञान अनुमानमात्र का विषय नहीं होता । 'अभ्यास' अर्थात् 'आचरण' या 'पुनः पुनः प्रवृत्ति' ही किसी विज्ञान की सत्यता की कसौटी बनती है ।

प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः ।
पितृरक्षःपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः ॥ ३६ ॥

प्रमाणविपर्यासस्य कुत्र संभवस्तत्स्पष्टीकरोति—"पितृणां रक्षसां पिशाचानां च सिद्धयः स्वकर्मजा एव भवन्ति । ते नैव प्रत्यक्षं प्रमाणीकुर्वन्ति, नापि चानुमानम् । तेषां सिद्धयश्च नापि प्रत्यक्षेण प्रामाणीकर्तुं पार्यन्ते, नैवप्यानुमानेन ।"

We can take the case of the priests of the most barberous tribes, or of the primitive gods, whose supranatural attainments

are the result of their actual performances. We cannot be sure about them, either by taking recourse to Pratyaksa or Anumana; those attainments being beyond the reach of these two. It means that all the logic is falsified in their case.

"पितर, राक्षस और पिशाचों की कार्यसिद्धि 'कर्मज' (अभ्यासज अथवा अन्यों को प्रमाण मानकर की जाने वाली : प्रैक्टिकल) ही होती है। उन्हें न 'प्रत्यक्ष' से विशेष प्रयोजन होता है, न 'अनुमान' से ! कर्म करते-करते, या देखते-देखते, वे एक 'अभ्यास' के अनुकारी हो जाते हैं। उस के अनुसार ही उनकी प्रवृत्ति किसी कार्यविशेष में होती है।"

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्क्षान्न विशिष्यते ॥ ३७ ॥

"ऋषीणां ज्ञानमधिकृत्यैतत्कथयितुं नैव शक्यते। ते तु आविर्भूतप्रकाशाः असंशयितचेतसश्च भवन्ति। तेषां कृते कालस्यातीतवर्तमानादिविभागोऽस्त्येव न। अत एव तेषां ज्ञानमपि त्रैकालिकं सार्वत्रिकं च भवति। तस्मिंश्च नास्ति विरोधोऽतीतानागतज्ञानस्य प्रत्यक्षज्ञानेन सह यत्किंचिदपि, नाऽपि च वैशिष्ट्यम्।"

But, on the contrary, in the case of Seers, we find their attainments and knowledge are irrefutable, and are in confirmity with the logical conclusions. It is because the Seers have realised the inner plosion of Light, and have attained a steady and unwavering state of mind. Due to their sublime realisation they see the Time as an *indivisible continuity*. Hence the Sublimity and infiniteness of their experience (*i e.*, knowledge). For them, Past, Present and Future become the parts of the same unbroken continuity. Thus, for them, the 'Knowledge' also becomes indivisible, and unaffected by the time-factor. Hence, in all the cases, it is indifferent from the 'Pratyakṣa knowledge.'

"जिन्हें 'प्रकाश' उपलब्ध हो चुका है, और जिनके चित्त में किसी प्रकार का विकल्प या संशय अवशिष्ट नहीं रहा है, उन (ऋषियों) का भूत और भविष्य सम्बन्धी ज्ञान वर्तमान सम्बन्धी 'प्रत्यक्ष' से किसी भी प्रकार भिन्न या हीन नहीं होता।"

टिप्पणी :—इस श्लोक में ज्ञान की सीमा का हेतु काल के प्रभाव को बताया गया है। 'प्रत्यक्ष' का सम्बन्ध 'वर्तमान काल' से अधिक है।

यहां प्रयुक्त 'प्रकाश' की तुलना इससे पूर्व १२, १८, और १९वें श्लोक में कथित 'ज्योतिः' और 'प्रकाश' से करनी चाहिए।

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥ ३८ ॥

"ये हि ऋषय इन्द्रियागम्यमनुभूतेरगम्यं वाऽप्यर्थमार्षेण स्वेन चक्षुषा प्रत्यक्षीकुर्वन्ति, तेषामुक्तयः प्रयोगा वाऽऽनुमानिकेनैव ज्ञानेन बाधितुं न पार्यन्ते।"

The pronouncements or statements of those sages, who can see with their piercing eyes the things, which are otherwise beyond the reach of the normal sense and feeling, can never be countered even by Anumāna.

"जो ऋषि लोग इन्द्रियों से भी अग्राह्य, और सामान्य अनुभूति की भी पकड में न आ सकने वाले, भावों को अपनी पारदर्शी चक्षु से देख लेते हैं, उनके वचनों या उपदेशों को सामान्य 'अनुमान' के द्वारा बाधित या असत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।"

टिप्पणी :—इसमें 'आप्तोपदेश' की सर्वाधिक प्रामाणिकता को सिद्ध किया गया है।

यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नाऽभिशंकते।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत् ॥ ३९ ॥

"यश्च प्रत्यक्षीकृतमिव स्वात्मनो ज्ञानं दर्शनं च स्वयमेव शंकाकुलो भूत्वा नैव पश्यति, तं प्रत्यक्षवन्तं कथमन्यो प्रतिवादयितुं समर्थो भवेत्?"

If one's knowledge is realised through self-experience and has become his own self, then no logic can counter its authen-

ticity. It is because of the fact that this type of knowledge is quite indifferent from that of the Pratyakṣa.

"इस आप्तोपदेश की प्रामाणिकता का कारण यह है कि उनका ज्ञान और दर्शन (विचार) उनका 'स्व' अर्थात् 'आत्मतत्त्व' बन चुका होता है। वह उनका 'अपना' या 'आत्मकृत' हो जाता है। इसीलिए वह 'प्रत्यक्ष' से कम महत्वपूर्ण नहीं होता। प्रत्युत प्रत्यक्ष पक्ष में स्थित उस 'ज्ञान' को, उसकी प्रामाणिकता के कारण, अन्यथा या निवृत्त करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं रहता।"

टिप्पणी :—'यः' और 'तं' का प्रयोग यहां 'आप्तोपदेश' या ऋषिज्ञान के लिए तथा 'अन्यः' का प्रयोग अन्य प्रमाणों के लिए हुआ है।

इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि 'जो आप्तोपदेश के रूप में प्राप्त ऋषिज्ञान इतना अधिक प्रत्यक्षाश्रित या प्रत्यक्ष होता है, उसका औचित्य या अनौचित्य सिद्ध करने के लिए किसी तर्क या दर्शन आदि की आवश्यकता नहीं होती। न ही उसे अन्य प्रमाणों द्वारा निराकृत किया जा सकता है।

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम् ॥ ४० ॥

लोकागमस्तु स्वाभाविक एवेति स्पष्टीकरोति—"ज्ञानहीनानां संस्कारहीनानां वा चण्डालानामपि कृते 'इदं पुण्यं' 'पापमिदं' वेत्यस्मिन् ज्ञाने नैव शंकावकाशः कश्चित्। जानन्ति हि ते स्वभावादेवैतत्। का कथा पुनः संस्कृतानामन्येषाम्। एतस्मिन् विषये शास्त्रसाहाय्यं नैवापेक्ष्यते।"

Authenticity of this type of congenial or natural knowledge is proved even by the fact that, for the sake of the knowledge of 'Sin' and 'Good' even the most ignorant and illiterate man does not require any help from one or the other Scripture. By tradition, he learns it in an automatic way.

"यह पुण्य है' या 'यह पाप है' इन दो बातों के ज्ञान के लिए मनुष्यमात्र को 'शास्त्र' के प्रमाणादि की आवश्यकता अनिवार्य नहीं रहती।"

टिप्पणी :—'आचण्डालं' का प्रयोग नितान्त अज्ञानी पुरुषों तक के लिए, पाप-पुण्य जैसी स्वाभाविक चेतना के बारे में, शास्त्रज्ञान की अनुपयोगिता को बताने के लिए हुआ है।

'शास्त्रज्ञान' की अनुपयोगिता बताने का कारण यह है कि उक्त बातों का ज्ञान स्वाभाविक रूप में ही मनुष्यमात्र को उपलब्ध रहता है। उसे जताने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की अनिवार्यता नहीं रहती। इसी प्रकार **भाषा का प्रयोग** या उस पर आश्रित 'आगम्' भी एक स्वाभाविक ज्ञान है, जिसे हम अपने तर्कों द्वारा अन्यथा नहीं कर सकते। **लोकप्रयोग** या लोक-आगम को किसी तर्क-क्रम से 'साधु' या 'असाधु' नहीं ठहराया जा सकता। अर्थ के विषय में भी यही सत्य है?

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते ।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ॥ ४१ ॥

लोकागमस्य माहात्म्यमुपसंहरते—"यश्चायमागमो लोकप्रवाहस्याविच्छिन्नत्वादव्याहततया विद्यते, यश्च चैतन्यमिव सर्वव्यापि निरन्तरं च वर्तते, तं कश्चिदप्युपासको विचारको वा हेतुवादैस्तर्कजालैर्वा प्रतिविधातुं नैव शक्नोति। तस्य ततोऽपि महत्त्वातिरेकात् ।"

Thus, it is this Āgama or the analysed popular tradition, which is incessantly existing like the Conscience, and which is irrefutable by any logic. Whosoever comes unto it, has nothing to fear from the so-called logistic obstructions.

"यह जो 'आगम' 'चेतना' की भांति अखण्ड रूप में विद्यमान है, इसे हेतुवाद से बाधित नहीं किया जा सकता।"

टिप्पणी :—'आगम' चेतना या चेतनता की भांति प्रवहमाण और नित्य है। उसकी 'परम्परा' अविच्छिन्न है (तुल० १-१४५)। यह बात पीछे १-३१ में भी कही गई है। वहां आगम को 'तर्क' से अबाधित माना गया है।

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता ।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः ॥ ४२ ॥

अनुमानाश्रितं परिणाममुपहसति—"यथा विषमे पथि धावन्नन्धो हस्तस्पर्शमात्रसाहाय्यो विनिपातोन्मुखो निश्चितमेव भवति, तथैव अनुमानप्रधानः पुरुषोऽप्यत्र वाग्विषये विनिपातमेव परिणामतया लभते ।"

Taking recourse to the hypothesis or Anumāna means being ready for an anticipated fall. As in the case of a Blind man, running on a rough surface, to fall is but a natural consequence. Because he proceeds with the help of his touching hands, which is quite unreliable. Similarly Anumāna is also unreliable in the ultimate analysis.

"प्रधानतः अनुमान का सहारा लेकर चलने से, इस भाषाविषयक विचार में, वैसे ही स्खलन होने की सहज संभावना है, जैसे ऊबड़-खाबड़ पथ पर हाथों से छू-छूकर बढ़ते हुए या दौड़ते हुए किसी अन्धे के गिरने की संभावना सहज होती है। दोनों जगह 'मार्ग का ज्ञान' वास्तविक या प्रत्यक्षाश्रित न होकर अनुमान-प्रधान ही होता है।"

टिप्पणी :—'व्याकरण' या 'लोकागम के ज्ञान' की अनिवार्यता को सिद्ध करते हुए भाषा ज्ञान के क्षेत्र में 'अनुमान' के आधार पर बढ़ने की बात को भ्रामक ठहराया गया है। व्याकरण किन्हीं स्पष्ट और प्रत्यक्ष परम्पराओं का विश्लेषण है, न कि अनुमान द्वारा निकाले गए कुछ निष्कर्षों का पुंजमात्र।

तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम्।
आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम्॥ ४३॥

व्याकरणस्योद्भवः कुत इत्येतदुपसंहरते—"अत एवानुमानाश्रितं विश्लेषणादिकं परित्यज्य स्वाभविकमकृत्रिमं च शास्त्रभूतं, सोदहरणं स्वनियमविधानबद्धं स्मृतिरूपं चेदं व्याकरणशास्त्रं शिष्टैरुपनिबद्ध्यते। शब्दानामन्वाख्यानमप्यागमं परम्परां च ज्ञात्वैव संभवतीत्याशयः।"

That is why the trained and scholastic grammarians begin the consideration of the word-discipline (or word-explanation), by basing it on two factors : the natural and unimposing law-study (*i.e.* S'astra), and the serialized traditional usage.

"इसलिए शिष्ट लोग अकृत्रिम अथवा सहज 'शास्त्र' तथा सूत्र रूप में विविध प्रयोग में साम्य स्थापित करने वाली 'स्मृति' (परम्पराविवेचन) का

प्रमुख आधार लेकर **'शब्दों के अनुशासन'** अर्थात् 'व्याकरण विषयक विचार' में प्रवृत्त होते हैं।"

टिप्पणी :—'शिष्ट' पर विचार हो चुका है (१.२७)। त्रिपदी में भर्तृहरि कहते हैं: 'शिष्टप्रयोगमभिसमीक्ष्य प्रकृतिरूहितव्या प्रत्ययश्च।'

'अकृतकं शास्त्रं'—अर्थात् व्याकरण 'शास्त्र' तो है पर तर्काश्रितमात्र नहीं है। यह 'अकृत्रिम' है, अर्थात् इसके नियम-विधान मनुष्य द्वारा निर्मित न होकर भाषा प्रयोग में से स्वतः ढूंढ़े जाते हैं। वे 'प्रत्यक्ष' हैं। आवश्यकता है उन्हें खुली आंखों पहचानने-मात्र की।

'स्मृति' की चर्चा ७ और २६ श्लोकों में आ ही चुकी है। 'सनिबन्धना' का अर्थ व्याकरण की 'बद्धमूला प्रकृति' है।

'शब्दानामनुशासनम्' पतंजलि के 'अथ शब्दानुशासनम्' की व्याख्या का उपसंहार है।

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ॥ ४४ ॥

"उपादानशब्दानां विचारप्रसंगे शब्दस्य नैमित्तिकप्रायोगिकाख्यौ द्वौ रूपौ गृह्यते। तयोः प्रथमः शब्दरचनायां रूपविन्यासप्रसंगे वा निमित्तरूपेण मूलभूतो स्वीक्रियते। अपरश्च प्रायोगिकः सन् प्रयोगकालेऽर्थाभिव्यक्तिहेतोरेव प्रयुज्यते।"

The grammarians have described two separate kinds of the words : *one* being used as the base-words for the grammatical constructions, and the *other* being invariably used to convey a definite sense or meaning.

पंतजलि ने 'चत्वारि शृंगा०' में 'द्वे शीर्षे' का अर्थ शब्द के 'नित्य' और कार्यात्मा' दो रूपों से लिया है, यहां भर्तृहरि उसी की व्याख्या दूसरे रूप में करते हैं :

"उपादान शब्दों में दो प्रकार के शब्दों का अस्तित्व शब्दविद् लोग मानते हैं। इनमें से एक शब्दों का **निमित्त** माना गया है, जबकि दूसरे को 'अर्थभावना' से **प्रयुक्त** किया जाता है।"

टिप्पणी :—पतंजलि के उक्त वचन पर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि अपने

त्रिपदी भाष्य में कहते हैं : 'कैश्चिन्नित्योऽयमिति दृष्टः, कैश्चिदनित्य इति । अथवा जातिर्व्यक्तिश्चेति । अथवा स्फोटो ध्वनिश्च ।'

वस्तुतः 'निमित्त' और 'अर्थात्मा' शब्द की तथाकथित 'मूल' (प्रकृति) और 'प्रयोगगत' (पद) रूपी दो विविध अवस्थाएं हैं । 'मूल' का अस्तित्व विविध रूप-कल्पना के मूल रूप में स्वीकार किया गया है । किन्तु अर्थ-व्यवहार में उनका वैसा प्रयोग नहीं होता । प्रयोग की दृष्टि से उसका परिवर्ती रूप सविभक्तिक 'पद' के रूप में ही प्रयुक्त होता है । अतः यहां अभिप्राय प्रत्येक शब्द की 'रूपात्मक' और 'भावनात्मक' (या प्रायोगिक) दो स्थितियों के अस्तित्व को स्वीकार करने से है । इसे ही भर्तृहरि ने 'स्फोटो ध्वनिश्च' कहा ।

अगला सारा प्रकरण शब्द के इन ध्वन्यात्मक और अर्थात्मक रूपों की चर्चा में अर्पित है ।

आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः ।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते ॥ ४५ ॥

"केषांचित् पुराणपन्थिनां मते नैमित्तिकप्रायोगिकयोः शब्दयोर्मूलतस्तत्त्वतो वा सत्ताभेदो विद्यते । परमपरे विद्वांसः शब्दमभिन्नं मत्वा 'तावुभावपि प्रयोक्तुर्ग्रहीतुर्वा बुद्धिभेदहेतोरेव भिन्नाविव प्रतीयेते' इत्यामनन्ति । अतो बुद्धिभेदपरिणामो ह्येवायं यत्तावुभावपि पृथक्कृत्य गण्येते ।"

But their assumption seems to be controversial. As we find *two* distinct schools in this regard : *one* (*i.e.* of traditionals), proclaiming these two aspects as two separate entities, while the *other* proclaiming the intrinsically one and indivisible 'word' being taken as of two kinds. It is because of the difference in their approach towards them.

"पुराणपन्थी विद्वान् तो उन्हें 'दो' ही मानकर बढ़ते हैं, क्योंकि वे उन दोनों की 'आत्मा' में अन्तर पाते हैं । इन विद्वानों की सम्मति में यह अन्तर उनमें रूपात्मक अभेद रहने पर भी आत्मापरक होता है । किन्तु कुछ ऐसे विद्वान् हैं, जो उस अभिन्न शब्द के 'भेदों' की चर्चा बुद्धिभेद पर आश्रित मानते हैं । अर्थात्, आत्मिक एकता होने पर भी, वे इन्हें प्रायोगिक उपयोगिता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्वीकार करते हैं ।"

टिप्पणी:—ऊपर जिसे 'निमित्त' शब्द कहा है, उसे ही अगले श्लोक में 'बुद्धिस्थ' शब्द भी कहा गया है। उसके मूल में रहने पर श्रुतिरूप में हमें उसके अनेक प्रायोगिक रूप मिल सकते हैं। यह 'बुद्धिस्थ' शब्द ही पतंजलि का 'नित्य' शब्द है। इसके श्रुत रूप ही प्रयोजन विशेष से प्रेरित होने के कारण 'कार्यात्मक' कहे जा सकते हैं।

इस विषय में भर्तृहरि का अपना मत 'शब्द' को 'अभिन्न' मानने में ही है।

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम् ।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ।। ४६ ।।

"मन्थनात्पूर्वमरणावेव ज्योतिरन्तर्हितं भवति, न पुनर्बहिः। तथापि बहिरागच्छन् स एवान्यानि द्रव्याणि दीपकार्पासादीनि प्रज्वालयन् प्रकाशान्तरकारणं भवति। एवमेव श्रुतेः पूर्वं शब्दोऽपि बुद्धिस्थमात्ररूपेणैवावतिष्ठते। स एव बुद्धिस्थः शब्दः प्रयोगवैविध्यमुपश्लिष्य क्वचिद्रूपभिन्नतां चोपलभ्य प्रकाशमुपागच्छन् भिन्नानां श्रुतशब्दानां जन्मनः कारणं भवति। अतो हि सर्वेऽपि शब्दस्योच्चारिता रूपभेदास्तस्य बुद्धिस्थस्य शब्दस्यैव परिणामाः।"

How a mentally retained word can be used again and again ? As the fire hidden in the firewood causes external light at different occasions, similarly a word is retained originally in the mind, and it is in its external application only that we hear it severally at different occasions and in different contexts.

"जिस प्रकार अरणि में स्थित अव्यक्त अग्नि ही अन्यत्र प्रकाश का कारण बनती है, उसी प्रकार बुद्धिस्थ अनभिव्यक्त शब्द ही बाह्य श्रुतिरूप में सुनाई देने वाले अनेक शब्दरूपों की अभिव्यक्ति का कारण बनता है।"

टि० :—'अरणिस्थ' शब्द ज्योति की अप्रकाशित या अनभिव्यक्त सत्ता का इंगित कर रहा है। उदाहरणार्थ उसका प्रयोग होने पर 'बुद्धिस्थ' शब्द की भी वही प्रकृति मानी जाएगी।

ज्योति 'अरणिस्थ' की स्थिति में 'एक' होकर भी अनेकत्र प्रकाश का कारण बनती है। इसी प्रकार 'बुद्धिस्थ' शब्द नित्य और एक होकर भी अनेकत्र प्रयोग,

और अनेकरूप प्रयोग, के द्वारा अनेक श्रुतियों का कारण बन जाता है। यह अनेकता कालजन्य, संख्याजन्य, अथवा स्थानजन्य हो सकती है।

आगे भर्तृहरि स्पष्ट करेंगे कि भावग्रहण में इस 'बुद्धिस्थ' शब्द का ही महत्व है (वा० ३-३-३३)। व्याकरण की दृष्टि से यह स्थिति 'प्रातिपदिक' और 'पद' की कही जा सकती है।

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ॥ ४७ ॥

"सर्वप्रथमं शब्दो बुद्धावेवावधार्यते। तत्रैव स वितर्कितो भवति। 'स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः' इत्येवमादिः। बुद्धौ प्रतिष्ठितोऽयमेव शब्दः क्वचिदन्यत्रान्यत्र प्रयोगकाले वैविध्यमुपागतः प्रकटितो भवति। प्रयोगस्तु तस्यार्थमूलकत्वादेव। इयं च तस्याभिव्यवितः करणेभ्यो ध्वनिजननेन्द्रियेभ्यो निःसृतेन स्वातन्त्र्यमुपागतेन च ध्वनिना माध्यमभूतेन संभवा भवति। अत प्रयोगभेदेन, देशकालभेदेन, अनेकोच्चारणभेदेन वा तस्य शब्दस्यानेकत्वं नैव संभवति। एतेषु भिन्नेष्वपि बुद्धौ नित्यत्वात् तस्यैकत्वं नित्यत्वं च स्वतः सिद्धमेव।

First of all, a 'word' is thought of in one's Mind. Then it is applied in a particular reference. Only after this alignment, the speech-producing organs give it a phonemic appearance. Thus 'mental retention' becomes an important factor in deciding the basic unity of a word, which may otherwise be used at different occasions and in different cases. Sounds or the final expressions are not much important things.

"वह (बुद्धिस्थ शब्द) पहले बुद्धि द्वारा सोचा जाता है, तब उसका प्रायोगिक निवेश किसी अर्थविशेष या द्रव्यविशेष में होता है। तब कहीं उसके उच्चारण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। उस उच्चारण काल में ही इन्द्रिय और ध्वनि का प्रसंग उठता है। अर्थात्, इन्द्रियों के प्रयत्न से ही बुद्धिस्थ शब्द 'ध्वनि' का रूप ग्रहण करता है।"

टि० :—'बुद्धिस्थ शब्द' की स्थायिता तथा बुद्धि के उसमें योगदान की

बात इसी अध्याय के ८४, ९०, ९१, एवं ११७ श्लोकों में कही गई है। बाद में १२२ वें श्लोक में इसे ही 'शब्दभावना' के रूप में कहा है।

'पुरा' का अर्थ 'प्रथमं' या 'पूर्वं' से भिन्न है। इसमें कालान्तर का भाव भी विद्यमान है। इससे 'बुद्धिस्थ शब्द' की नित्यता इस प्रकार भी सिद्ध होती है कि उसकी स्थायिता प्रयोक्ता की बुद्धि में 'शब्दभावना' या 'अर्थभावना' के रूप में पहले ही स्थिर हो चुकी होती है। हां, स्थानविशेष पर कालविशेष में उसे द्रव्य-विशेष या अर्थविशेष से सम्बद्ध करके जब हम प्रयोग करते हैं, तब देखने में वह प्रयोग स्थान, काल, आदि की दृष्टि से भले ही सद्योजात प्रतीत हो, भाषातत्त्व की दृष्टि से उसकी बुद्धिगत सत्ता पहले से विद्यमान है। हम तो उसका प्रयोग-मात्र अन्यत्र या अन्य प्रसंग में कर रहे होते हैं। इसीलिए 'बुद्धिस्थ' होने की दृष्टि से, काल, स्थान, आदि की विविधता होने पर भी, वह शब्द एक ही कहा जाता है। यही बात 'पद' के विभक्त्यन्त रूपों के विषय में भी कही जा सकती है। 'प्रकृति' ही पद का बुद्धिस्थ रूप कहा जा सकती है, पद नहीं। कारण कि 'पद' तो काल स्थान, अभिधेय, आदि की अपेक्षा रख कर विभक्त्यादि सहित प्रयोग किया जाता है। किन्तु, ये विभक्त्यादि जिस 'मूल' शब्द में जोड़े जाते हैं, वह इन पद भेदों में समान रूप से उपलब्ध शब्दरूप अविभक्तिक अवस्था में भी बुद्धि में स्थित रहता है। तभी हम उसका प्रयोग यथास्थान और यथासम्बद्ध करते हैं।

'वितर्कितः' का एक अर्थ यह भी है कि अर्थ, प्रत्ययादि के रूप में विचार करने पर शब्द 'बुद्धि' का ही विषय होता है।

नादस्य क्रमजन्मत्वात् न पूर्वो न परश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते ॥ ४८ ॥

"क्रमजन्मा तु नाद एव भवति, न शब्दः। उच्चरितवर्णप्रध्वं-सेऽपि शब्दस्यैकत्वं प्रसिद्धमेव। अतो बुद्धिस्थोच्चरितयोः कः पूर्वः कश्च परः? इति नैव शक्यते कथयितुम्। उच्चरितो बुद्धिस्थो वा शब्दोऽक्रम एव भवितुमर्हति। क्रमस्तु नादस्य स्वभावः। स्फोटनाद-योरपि क्रमहीनत्वमेव सिद्ध्यति, शब्दश्रुतिसमकालमेव स्फोटस्य संभवात्। शब्दार्थयोरपि स्फोटहेतोरेव क्रमत्वं नैव सिद्ध्यति। अतः शब्दस्य ध्वनिरूपे, अर्थाभिव्यक्तौ, स्फोटाद्युपलब्धौ वा क्रमवत्त्वं

कथमपि न संभवति। तदापि सौख्यार्थमसत्यामपि क्रमप्रतीतिं सत्यरूपामिव मत्वा क्रमहीनोऽपि शब्दः क्रमवानिव स्वीक्रियते।'

The sounds or the phonemes take birth one after the other, not the mentally retained words as such. So there is no question of any 'order' in its different aspects. The 'word' being a compact unit, there is no question of sonic or phonemic order even. But even then, as the progressive sounds are produced, this is supposed to be having a definite phonemic order, as if it was divided into several phonemes or parts.

"नाद क्रमजन्मा है। अतः 'शब्द' को 'ध्वनि' मानने पर उसकी स्थिति ही सम्भव नहीं होती। उस स्थिति में हम पूर्व उत्पन्न 'ध्वनि' को 'शब्द' कहें, या उत्तर ध्वनि को? 'क्रमपूर्वक' उत्पन्न होने से दोनों की सह-उपस्थिति या सह-जन्म स्वीकार नहीं किया जा सकता; जब कि सत्य यह है कि सभी ध्वनियों का समवेत नाम ही 'शब्द' है। उसमें ध्वनियों के आधार पर कोई 'खण्ड' या क्रम विद्यमान नहीं है। न ही उसका ग्रहण ध्वनिक्रम से होता है। बल्कि इस ध्वनिक्रम का महत्व स्वीकार करने के बाद तो 'अक्रम' रूप में 'उपलब्ध' होने वाला 'शब्द' भी 'क्रमवान्' प्रतीत होता है। मानो 'क्रम' के कारण उसके खण्ड-खण्ड हों, या ध्वनिक्रम से उसका कोई अर्थ विद्यमान हो।"

टि०—(तुल० महा०, पा० १-४-१०९):—

१—'न हि वर्णानां पौर्वापर्यमस्ति।.........न वर्णो वर्णस्य सहायः।'

२—'बुद्धिविषयमेव शब्दानां पौर्वापर्यम्। इह य एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति, स पश्यति अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रयोक्तव्यः; अस्मिस्तावच्छब्देऽयं तावद् वर्णः। ततोऽयं, ततोऽयमिति।'

—इस बात को समझने के बाद शब्दों में वर्णगत अर्थ जैसी कोई वस्तु मान्य नहीं रहती।

प्रतिबिम्बं यथाऽन्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति, स धर्मः स्फोटनादयोः॥ ४९॥

"जले दृश्यमानं जलेनान्यत्र प्रतिबिम्बितं वा द्रव्यस्य प्रतिबिम्ब-मन्यत्र स्थितत्वाऽपि मूलद्रव्यस्यप्रवृत्तिं नैव त्यजति, अपितु तामनुस-

रत्येव। तच्च जले चलायमाने तरंगिते वा सत्यपि, चंचले वात्मनो रूपे मूलस्यानुकृतिं वहत्येव। तथैव नादस्य क्रमजन्मत्वाद् ह्रस्वदीर्घ-वृद्धादिभेदा द्वा स्फोटस्य ग्रहणे स्वरूपे वा नैव कश्चन भेदो दृश्यते। नादस्य स्थितिस्तोयक्रियावद् वर्तते। तस्मिन्नस्थिरेऽपि सति, स्फोटस्य स्वरूपं तु स्थिरमपरिवर्ति च तिष्ठति। अतः स्फोटनादयोः धर्मस्तरंग-प्रतिबिम्बवदेव वर्तते।"

"Any reflexion in the water, or through the water, does not change in its original shape or by nature, though the water may become restive. This means, that the nature or shape of the original thing is carried by the reflexion as well, though the medium, *i.e.* water in this case, may vary its position occasionally. Thus any difference, due to the space or medium, does not stop the reflexion from retaining its originality. In the same way, Sphoṭa retains its originality and its resemblance with the pronounced 'word', though its carrier medium, *i.e.* Nāda (Sound), may vary in length or otherwise. Thus the situation of the water or Nāda is the same, *i.e.*, they are the mediums only. Sphoṭa is a reflexion through the medium of Nāda. But it is never the reflexion of Nada itself. Really it has nothing to do with Nāda. It is the reflexion of the 'word', which lies originally in one's mind and which is spoken by the speaker and received by the listener, through the medium of Nāda. Thus the properties of Nāda, *e.g.* lengthening, shortening, and diphthong-formation etc., don't effect the simultaneous reception of the 'word', in the form of Sphoṭa."

"जल में या जल के द्वारा पड़ने वाला प्रतिबिम्ब जिस प्रकार अन्यत्र स्थित होकर भी मूलप्रवृत्ति से युक्त रहता है, अर्थात् तरंगों की चंचलता अथवा उनके विस्तार के होने पर भी जैसे वह अपने मूल रूप को वहन करता ही है, उसी प्रकार 'नाद' के 'क्रमजन्मा' एवं ह्रस्वदीर्घादि भेद से 'कालसापेक्ष' होने पर भी 'स्फोट' अपने स्वरूप और गुण को सर्वत्र वहन करता ही है। अर्थात् नाद का स्वभाव **तोयक्रिया** की भाँति अस्थिर है, जबकि स्फोट का स्वभाव तोय में पड़ने वाले **प्रतिबिम्ब** की भाँति अपने रूप गुण में अविचाली है।"

टि० :—'नाद' को यहां 'वाहक' साधन के रूप में और 'स्फोट' को कहा

'वस्तु' के रूप में परस्पर सम्बद्ध बताया गया है। इसे 'आधाराधेय सम्बन्ध' के रूप में भी कहा जा सकता है। इस उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि 'नाद' की स्थिति बदलती रहने पर भी 'स्फोट' का स्वरूप मूलतः 'एक' ही रहता है।

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च विद्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रतीयते ॥ ५० ॥

"यथा ज्ञानरूपेण ज्ञेयरूपेण चाभिन्नमेकमेव वस्तु द्वाभ्यां रूपाभ्यां विभक्तमिवाभाति, विषयरूपेण तयोरभिन्ना स्थितिश्च नैव हीयते ज्ञेयस्य ज्ञानाश्रितत्वात्; तथैवाभिन्ने चैकात्मके शब्दे श्रुतिरूपतया-ऽर्थप्रतीतिरूपतया च शब्दस्य स्वरूपं तस्यैवार्थरूपादभिन्नमिवा-ऽऽभाति। अनयोः पृथक्ता प्रकाशनव्यापारे ह्येव प्रतीयते। अन्यथा बुद्धिस्थरूपेण तु शब्द एकात्मा ह्येव। अर्थरूपं तु स्वरूपाश्रितम्।"

As the Knowledge itself and its Object are two inseparable aspects of 'one and the same thing', so are the two aspects of the word, *i.e.* word and meaning, inseparably united and belonging to one and the same thing.

"जिस प्रकार 'ज्ञान' में स्वतः 'ज्ञान' और 'ज्ञेय' दोनों का ग्रहण या समावेश हो जाता है, क्योंकि ज्ञान की सत्ता ज्ञेय के बिना सम्भव ही नहीं है, उसी तरह 'शब्द' में भी 'अर्थरूप' और 'स्वरूप' दोनों का अस्तित्व छिपा रहता है। अर्थात्, अर्थ की सत्ता शब्द के बिना सम्भव ही न होने के कारण और शब्द की उपयोगिता अर्थ के बिना शून्य होने के कारण, दोनों 'रूपों' को 'भिन्न' या 'पृथक्' कहना अपनी ही भ्रान्ति का परिचय देना है,।"

टि०—पतंजलि ने 'येनोच्चारितेनेह...' तथा 'तस्माद् ध्वनिः शब्दः' के द्वारा दो भिन्न व्याख्याएं देकर शब्द का स्वरूप समझाना चाहा था। प्रथम में 'अर्थ' की प्रधानता स्वीकृत है, जबकि दूसरे में 'रूप' को महत्त्व प्राप्त हुआ है। वास्तविकता यह है कि प्रथम परिभाषा तर्काश्रित है, जबकि द्वितीय परिभाषा-लोकाश्रित या लोकप्रयोगाश्रित है। 'शोर' को भी 'शब्द कर रहा है' के रूप में कह ही दिया जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह परिभाषा आपत्तिजनक प्रतीत होती है। पर, सत्य यह है कि 'शोर' को 'शब्द' कहना भी इस दृष्टि से साभिप्राय ही है कि अन्ततः 'शोर' भी तो किसी 'अर्थभावना' के वहन के लिए

ही होता है। इसीलिए भर्तृहरि आगे चलकर 'अर्थभावना' के स्थान पर 'शब्दभावना' का प्रयोग शब्दप्रयोग के अनिवार्य हेतु के रूप में करते हैं (वा० १-१२२)। पर, इस श्लोक में उनका उद्देश्य पतंजलि की उक्त दोनों परिभाषाओं की मूलभूत एकता या वास्तविकता को बताना है। इसीलिए वे अपनी पुरानी उपस्थापना फिर दोहराते हैं :' 'अर्थरूप और शब्दरूप (ध्वनिरूप) एक ही है।'

आण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः ।
वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो लभते क्रमम् ॥ ५१ ॥

"शब्दसंज्ञकोऽयं व्यापारो यज्ञरूप एव। यथा यज्ञो हिरण्यगर्भरूपेणाण्डरूपेण वा स्थितः एकत्वमावहन्नपि प्रयोगे तु भागश एव स्पष्टतामुपलभते, सा च भागात्मिका क्रमवत्ता तस्य वृत्तिः, तथैव शब्दोऽपि स्वस्मिन् हिरण्यगर्भ इव महतीं वृत्तिं सम्भावनां वा धारयति। यथा खण्डश उपलभ्यमानया वृत्त्या विना क्रतुः केवलं मन्त्रात्मकोऽफलो व्यापारमात्र एव। न च तेन मन्त्रपाठमात्रेण किंचन प्रयोजनं हि सिद्धयति। तथैव शब्दस्य ध्वन्यात्मकेन पाठमात्रेण किमपि प्रयोजनं नैव सिद्धयति। हिरण्यगर्भमण्डमिव स स्फोटरूपेण गृह्यमाणो यज्ञस्य वृत्त्यात्मकव्यापारमिव खण्डरूपेण स्थितेन पदार्थेन द्वारा स्वात्मनः क्रमात्मकं विस्तारं प्रकटयति। परं यथैव भागशो ज्ञाताः प्रकटिता वा क्रियाव्यापारा यज्ञस्याखण्डतामेव पुष्णन्ति, नैव कदापि तां खण्डयन्ति, तथैव प्रकृतिप्रत्ययादिरूपेण पदार्थादिरूपेण वा गृह्यमाणाः स्पष्टं विभक्तार्थाः शब्दजाता विविधा वृत्तीरेव, तज्जन्याः संभावनाविशेषा एव वा, प्रकटयन्ति। भावनारूपेणान्यथा च तस्याखण्डतां चोद्घटयन्ति।'

अथवाऽयमप्यर्थोऽस्य—"बुद्धिस्थः शब्दोऽण्डमिव यज्ञमिव वा भवति। वाग्व्यापारे च तस्य विविधात्मको नियोगस्तस्य वृत्तिमिव विविधमर्थजातं वहति। रूपं त्वस्य शरीरमात्रमेव। आत्मरूपेण चास्य अर्थसंभावना एव तिष्ठन्ति।"

All the speech-phenomenon is nothing but a Yajña (Dedication), having an embryonic or Nuclear nature. Just as an egg (or embryo) is an indivisible entity, which unfolds itself

step by step, in the same way the Yajña, and speech-phenomenon for that matter, is also an indivisible entity, which expands itself into different details, part by part. In other words, we may find the speech divided into so-called subdivisions, but the fact remains that basically the speech is one and indivisible, and it is the source of all the apparent details or divisions.

Or, a word, retained in the mind, is one and indivisible, though in application it may be used in different senses on different occasions. Those differences are nothing but the different manifestations of the same 'self'.

"शब्दसंज्ञक जो 'यज्ञ' 'अण्डभाव' को प्राप्त हो चुका है, क्रिया विस्तार के रूप में उसकी 'वृत्ति' ही खण्डशः 'क्रम' को प्राप्त होती है।"

भावः—यहां 'शब्द' के 'स्वरूप' को 'यज्ञ' और 'हरिण्यगर्भ' के समान बताया गया है। यज्ञ का स्थूल रूप हमें शब्दात्मक (या मन्त्रात्मक) ही दिखाई देता है। पर, उसका वास्तविक महत्त्व और अस्तित्व, उन शब्दों या ध्वनियों में न, होकर, अर्थरूपों उन क्रियाओं में है, जो क्रमशः और खण्डशः सम्पादित की जाती हुई अन्ततः 'यज्ञ' की पूर्णता का कारण बनती हैं। उन क्रियाओं के बिना वह यज्ञ अधूरा या सारहीन है। कम-से-कम उसे 'यज्ञ' नहीं कहा जा सकता; 'मन्त्रपाठ' आदि कुछ अन्य नाम भले ही दे दिया जाए। इस प्रकार 'शब्दरूप यह यज्ञ' (या 'यज्ञरूप यह शब्द') हिरण्यगर्भ या 'अण्डे' की स्थिति में होता है, जिसका आकार उसकी वास्तविकता नहीं है, बल्कि उसके अन्दर छिपी हुई संभावनाएं ही उसकी वास्तविकता हैं। ठीक इसी रूप में प्रयुक्त होने वाला 'शब्द' केवल अपने 'रूप' तक ही सीमित नहीं रहता है। बल्कि उसके वृत्त में वे सभी संभावनाएं भी आ जाती हैं, जिनका ग्रहण उस ध्वनिरूप शब्द के प्रयोग के बाद होता है। उन्हें हम उसी तरह का विस्तार मान सकते हैं, जिस तरह विविध याज्ञिक क्रियाओं-प्रक्रियाओं को हम यज्ञ का विस्तार मानते हैं।

टि०:—यहां शब्द की प्रकृति 'समास' के रूप में कही गई है। तभी 'वृत्ति' को खण्ड और क्रम से प्रकट होने वाले विस्तार के रूप में कहा गया है।

यथैकबुद्धिविषया मूर्तिराक्रियते पटे।
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते ॥ ५२ ॥

बुद्धिस्थं शब्दमधिकृत्याधुना कतिपयैः श्लोकैः केचन सिद्धान्ताः प्रतिपादिताः—"यथा काचिन्मूर्तिर्बुद्धावेकत्वेन स्थिताऽपि चित्रणकाले विविधरूपेण चित्रिता भवति, एवं हि शब्दोऽपि बुद्धिस्थ एक एव सन् प्रयोगकाले रूपात्मकविभागेन विविधतामावहत्येव। बुद्धावेकत्वं तु तयोर्न प्रणश्यति।

"यथा वा एकबुद्धिविषयाऽपि मूर्तिश्चित्रणकालेऽन्या अपि तिसृर्मूर्तीरन्तगृह्णात्यभिव्यनक्ति च, तस्याश्चैकत्वं नैव हीयते, तथैव बुद्धावेकविषयोऽपि शब्दो स्तस्या मूलभूताया भावनाया व्यतिरिक्ताः सह सम्बद्धा वा काश्चिद् भावना अभिव्यनक्त्येव। अर्थदृष्ट्या ता अपि भावनाविशेषास्तस्यैव शब्दस्यांशभूता मूलमेव पुष्णन्ति, कथमपि च पृथक्त्वं नैव वहन्ति।"

An artist, while drawing a compact picture, may sketch it in three or more ways. In the same way, a word, having a compact and fixed idea behind it, may be used in different ways and in different references. This multiple expression does not necessarily indicate the multiplicity of the 'thing' or 'self' as well. That remains one and compact.

Or just as, while drawing a picture, with a particular 'thing' in mind, an artist has to draw some other supporting 'things' as well, in the same way, a word, while retaining its original or fixed sense, may be used in some other allied senses as well. This does not affect its unity and compactness in any way.

"जिस प्रकार कोई 'मूर्ति' एकबुद्धिविषया ही होती है, परन्तु, पट पर अंकित करते हुए उसे त्रितय या अधिक रूपों में खींचा जा सकता है। ठीक उसी तरह शब्द के विषय में भी यह बात सत्य है। अर्थात्, बुद्धिविषय उसका भी 'एक' ही होता है। किन्तु प्रायोगिक रूपभिन्नता, उसके स्वरूप में बिना अन्तर डाले भी, लोक-प्रयोग का आधार बनती ही है।"

टि० :—यहाँ पूर्वकथित इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप में कहा गया है कि 'प्रकृति' या 'स्वरूप' में एक रहकर भी शब्द विविध पदरूपों में प्रयुक्त होता

है। ऐसा करते हुए उसमें अर्थात्मक या रूपात्मक कोई भी परिवर्तन नहीं आता।

२. इसका एक अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि 'एक विषय को लेकर हम मूर्ति तो एक ही खींच रहे होते हैं, किन्तु उस मूर्ति में ही अन्य कुछ वस्तुएं (मूर्तियां) भी अंकित रहती हैं, जिन्हें मूलविषय से भिन्न करके हम पृथक् रूप में गिन भी सकते हैं। इसी प्रकार शब्द प्रयोग में मूल भावना तो एक ही रहती है, किन्तु उस भावना की ही सहजात कुछ ऐसी वृत्तियां होती हैं, जिन्हें हम व्यक्तिशः भी उस शब्द से सम्बद्ध मान सकते हैं, अथवा प्रकटतः उन अर्थों में उसका प्रयोग कर सकते हैं।'

इस प्रकार यह भी सिद्धान्त सामने आता है कि 'एक होकर भी शब्द परस्पर मिलती-जुलती या अंशांशिभूत भावनाओं का व्यंजक बन जाता है।

विशेष—ये दोनों सिद्धान्त क्रमशः रूपात्मक और अर्थात्मक 'एकता' का रहस्य समझाते हैं।

यथा प्रयोक्तुः प्राबुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।
व्यवसायो ग्रहीतृणामेवं तेष्वेव जायते॥ ५३॥

प्रयोक्तुर्ग्रहीतुश्चार्थे माध्यमभूतः शब्द इत्युद्घोषयति—"यथा प्रयोगकाले प्रयोक्ता प्रथमं शब्दचयने ह्येव प्रवर्तते, निश्चित्यैव च तान् प्रयुनक्ति, तथैव श्रोता ग्रहीता वाऽपि तस्यार्थस्यग्रहणात्प्राक् शब्दस्योच्चारितमेव रूपमाश्रयति। उच्चारणे ग्रहणे च माध्यमभूता शब्दाकृतिरेवोभयाधारभूताऽर्थमभिव्यनक्ति तमेव च वहति।"

प्राग्बुद्धिरत्र पश्यन्तीस्थिता निश्चयावस्था, व्यवसायश्चात्र ग्रहीतुर्ग्रहणोत्सुका प्रवृत्तिस्तज्जन्यः श्रमश्च।"

The spoken or written word is the sole medium of whole of the process of Expression and Reception. As a speaker has to apply his mind in finding out the appropriate words, before expressing himself, likewise the receiver has also to set his mind on the spoken words, before he could understand the sense conveyed by them.

Thus, the physical appearance of the 'word' is also a reality ; that being the sole medium of the expression and reception.

"अभिव्यक्ति के क्षण में जिस प्रकार प्रयोक्ता की 'प्राग्बुद्धि' माध्यमरूप में शब्दों के चयन में ही प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार 'ग्रहण' के समय 'ग्रहीता' का व्यवसाय उसे सबसे पूर्व माध्यमरूप 'शब्द' में ही प्रवृत्त करता है।"

भाव : यहां भर्तृहरि वक्ता और श्रोता के बीच भाषा के 'व्यापार-माध्यम' रूप पर अधिक विचार कर रहे हैं। उनके अनुसार प्रयोक्ता उच्चारण से पूर्व अपने 'अभिव्यज्यमान' विचारों को व्यक्त करने के लिए माध्यम रूप 'शब्दों' का विनिश्चय करता है। उच्चरित होकर ये शब्द ही 'वक्तव्य' बन जाते हैं। उधर श्रोता जब उस वक्तव्य को 'ग्रहण' करना चाहता है, तब जहां उसे 'अवधान' की आवश्यकता है, वहां उसे भी माध्यम रूप में उन उच्चरित शब्दों को ही अपना प्रथम 'आधार' बनाना पड़ता है।

टिप्पणीः—इस कारिका में निम्न सिद्धान्त निहित है :

१. 'शब्द' किसी प्राग्बुद्धि (या प्रयोक्तृबुद्धि) की ही अभिव्यक्ति के 'शरीर' रूपी माध्यम हैं।

२. ग्रहण में जिस 'बुद्धि' को पाना लक्ष्य है, उसे पाने से पूर्व प्रयोक्ता के उच्चरित शब्दों को सुनना तथा अवधानवान् होना नितान्त आवश्यक है। **अर्थात्**, वक्ता और श्रोता दोनों को ही 'शब्दों' को माध्यमरूप में अपनाना पड़ता है।

३. **अन्तर** यह है कि प्रयोक्ता का व्यापार 'शब्दरूप' पर समाप्त होता है, जबकि 'ग्रहण' में इसका आरम्भ 'शब्दरूप' से होता है।

४. दूसरी ओर, प्रयोक्ता का वाग्व्यापार 'बुद्धि' या 'प्राग्बुद्धि' में 'शब्दरूप' के ग्रहण से पूर्व आरम्भ होता है। जबकि श्रोता में वाग्व्यापार का चरम लक्ष्य 'बुद्धि' में उन शब्दरूपों के माध्यम से अभिहित वस्तु को ग्रहण करने पर समाप्त होता है, जिसके लिए अनिवार्य शर्त है 'श्रोता का ग्रहण के लिए व्यवसाय'। भर्तृहरि इसे ही अन्यत्र कहते हैं : **बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते**। (वा० ३-३-३३)

नोट :—ये सभी सिद्धान्त अत्यन्त आधुनिक प्रतीत होंगे।

अर्थोपसर्जनीभूतानभिधेयेषु केषुचित्।
चरितार्थान् परार्थत्वान्न लोकः प्रतिपद्यते ॥५४॥

न हि परार्थः सर्वैः सर्वदाऽवाप्यते—"केषुचिदभिधेयेषु वक्त्राभिप्रायेषु वाक्यरूपेषु सन्ति हि केचन अन्तर्भुक्ता अर्थाः। ते हि चरितार्थाः सामान्येनार्थेनोपसर्जनीभूताः पुरस्कृता वा स्पष्टतामायान्ति। अतस्तेषां ज्ञानं सर्वेषां कृते सर्वदा नैव संभवति। परमेत उपसर्जनीभूता अर्थाः परायामेवावस्थायामुपलब्धा भवन्ति। अनेन हेतुना ते परार्थाः कथ्यन्ते। परार्थत्वात् तान् सर्वोऽपि लोको नैव प्रतिपत्तुं समर्थो भवति। सामान्यस्य लोकस्य व्यवहारस्तु सामान्येनोपलभ्यमानेनैवार्थेन निवर्तते।"

सन्ति हि वाक्यार्थेषु चरितार्थाः। ते च परार्थत्वात् सर्वैरपि श्रोतृभिः सदैवोपलभ्याः स्वत एव न जायन्ते; सर्वत्र व्युत्पत्तेरसंभवात्।

In some statements we find that some of the senses are brought forward not by the words used therein, but by the combined meaning of all the words used in that statement. Thus, an *expanded meaning* is brought out by the, socalled, *basic meaning*. The former may be called as 'latent' or 'hidden' meaning. But this is beyond the reach of the physical or logical arrangement. That is why, it is not necessarily within the reach of every listener. Generally the people are concerned and contented with the so-called 'fixed meanings' of the words. But the hidden secrets are available to those, who are intently bent upon to find them out.

"कुछ वक्तव्यों में कुछ ऐसे अर्थ होते हैं, जो सीधे शब्दरूपों से सम्बद्ध न होकर 'चरितार्थ' या अन्तर्भुक्तार्थ के रूप में होते हैं। वे वस्तुतः तथाकथित शब्दार्थों के द्वारा उपसृष्ट होते हैं। स्वयं, 'मूल अर्थ' के रूप में न होकर, उपसृष्ट होने के कारण वे हर श्रोता की समझ में आ जाएं, यह अनिवार्य नहीं है। कारण, यह कि वे परार्थ (पर+अर्थ या परा+अर्थ) होते हैं। और सामान्य से अतिरिक्त भावना होने के कारण 'लोक' उन्हें प्रायः उस रूप में ग्रहण नहीं कर पाता। परन्तु, यह नियम सार्वत्रिक नहीं है (केषुचित्)।"

टिप्पणी :—यहां 'उपसर्जनीभूत', 'चरितार्थ' और 'परार्थ' शब्दों का प्रयोग विशेष चिन्त्य है।

'उपसर्जनीभूत अर्थ' का तात्पर्य्य उस अर्थविधा से है, जिसे 'शब्दार्थ' वहन तो नहीं करता, पर सामने अवश्य ला देता है।

'चरितार्थ' का अर्थ हमने 'अन्तर्भुक्तार्थ' के रूप में किया है, जोकि 'चरितास्तिक्रियम्' आदि प्रयोगों के द्वारा भी सम्पुष्ट होता है।

'परार्थ' को सामान्यतः 'ध्वन्यर्थ' समझा जाता है। किन्तु, यहां अभिप्राय अर्थ की उस विधा से है, जिसको बिना समझे भी लोक का प्रयोजन चल ही जाता है, पर जिसे सूक्ष्मार्थ के रूप में पाकर श्रोता की बुद्धि चमत्कृत हो उठती है। भर्तृहरि इस 'परार्थ' को भी 'अविशिष्ट' ही मानते हैं : 'पारार्थ्यस्याविशिष्टत्वात्' आदि।

सिद्धान्त :—इसमें यह सिद्धान्त स्पष्ट हुआ कि बहुधा लोक का प्रयोजन सामान्य या स्थूल अर्थों से ही चल जाता है। बारीकियों में जाना बुद्धि की गति पर निर्भर करता है।

दूसरी बात यह कि अर्थ केवल 'शब्दार्थ' के रूप में ही सीमित नहीं होता। बल्कि उसके प्रयोग के पीछे छिपी 'प्राग्बुद्धि' की गहराइयों को पाना भी उसी के द्वारा सम्भव हो पाता है। 'प्राग्बुद्धि के इस अर्थ' को ही 'परार्थ' कहना अधिक उचित है। पर यह अर्थ भी अन्ततः प्रयुक्त शब्दों के अर्थों से ही 'उपसर्जनीभूत' होकर स्पष्ट होता है।

"ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥५५॥

शब्दस्य ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च विवेचयति—"यथा प्रकाश आत्मरूपेण ग्राह्योऽपि भवति, प्रकाशितानामन्यानां पदार्थानां ग्राहकश्च ; तथैव सर्वे शब्दाः स्वात्मनो रूपेणापि ग्राह्या भवन्ति, वाक्यार्थस्यांगतयाऽऽत्मशक्त्या चार्थानां चरितार्थानां वाऽपि ग्राहका भवन्ति।"

अत्र पूर्वोक्तवदात्मरूपस्य ज्ञेयरूपस्यच शब्देन प्रतीतिरिति पुनरपि निगदितम्।

Light has two aspects : as a receptible thing itself, and as an instrument in reception of other things. In the same way, all the words have two aspects : they are receptibles in their own forms, and they are instrumental in reception of the sense, lying behind themselves.

Both of these aspects belong to one and the same thing.

"जिस प्रकार 'तेजस्' की दो शक्तियां 'ग्राह्यत्व' और 'ग्राहकत्व' के रूप में स्थित हैं, उसी प्रकार ये ही दोनों शक्तियां सभी शब्दों में भी स्थित हैं। ये दोनों शक्तियां एक-दूसरे से भिन्न और पृथक् हैं।"

टिप्पणी :—'ज्ञेयरूप' और 'ज्ञानरूप' के 'ज्ञान' में ही अवस्थित होने एवं शब्द में 'स्वरूप' और 'अर्थरूप' के अन्तर्हित होने की बात ऊपर (५०वें श्लोक में) आ चुकी है। इन दोनों की सह-स्थिति का कारण समझाते हुए भर्तृहरि शब्द की इन दो शक्तियों की चर्चा करते हैं। 'ग्राह्य' का यहां अभिप्राय 'ज्ञेय' से है, और 'ग्राहक' का 'ज्ञानरूप' या 'शब्दरूप' से है। क्योंकि 'विषय' ही ग्रहण किया जाने योग्य ठहरता है, और 'शब्द' ही उसे ग्रहण कराने का माध्यम ठहरता है। यह बात आगे भी स्पष्ट की गई है।

विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते ।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥५६॥

"ग्रहणं तु शब्दस्य ग्रहीतुर्व्यवसायित्मकायां बुद्धयामेवाश्रितम्। तस्या अभावे तस्य ग्रहणमेव न संभवति। अगृहीताश्च शब्दा अर्थवन्तः सन्तोऽपि स्वात्मनोऽर्थान् नैव विज्ञापयन्ति, प्रयोजनाभावात्। अतस्तेषामर्थप्रकाशनव्यापारः केवलं सत्तामात्रमेव नाधितिष्ठति। ग्रहीतुः ग्रहणोत्सुको व्यवसायोऽपि तत्रावश्यको भवति।

"शब्दस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यमेव पुनः सहेतुकं विवेचयन् प्राह—यावद् वयं शब्दान् विषयविशेषमाश्रित्य न प्रयुञ्जामो, तावत्तेषामर्थप्रकाशनसामर्थ्यं सफलमेव न भवति। अतः विषयविशेषे शब्दप्रयोग एव तस्मिन्नर्थाधानं करोति, न तस्य सत्तैव केवला।"

Unless a word is used with a definite object, or in a definite sense, it remains useless and meaningless. No meaning becomes automatically explicit, by the mere virtue of word's physical presence. For understanding it, it is essential that its application be made with a definite object, and in a definite sense.

"जब तक शब्द किसी 'विषय' या 'भावना' को ग्रहण करके 'तद्रूप' नहीं हो जाते, तब तक उन शब्दों से कोई भी अर्थ प्रकाशित नहीं होता। अर्थात्, प्रयोगावस्था में ही शब्द अर्थवान् होते हैं, क्योंकि उस दशा में

वे किसी विशिष्ट भावना या विषय के लिए अर्पित हो चुके होते हैं। अन्यथा, यदि यह माना जाए कि प्रयोग के बिना भी वे केवल अपनी सत्ता के बल पर ही किसी अर्थ को, प्रकरण और प्रयोग से रहित अवस्था में भी, वहन करते हैं, तब उनका यह सर्वथा भ्रम ही होगा। जब तक उनका ग्रहण किसी 'विषय' या 'भावना' से समवेत रूप में ग्रहण नहीं किया जाता, तब तक उनसे किसी अर्थ की भी प्रतीति नहीं होती।'

सार :—भर्तृहरि के मत में :

१. अर्थप्रकाशन की आवश्यक शर्त है शब्दों की विषयसम्बद्धता (ग्राह्यता); और, २. जब तक उन्हें समझा न जाए, वे 'प्रकाशक' नहीं बनते (ग्राहकता)।

टिप्पणी :—इसके द्वारा पूर्वोक्त श्लोक की बात को ही अधिक स्पष्ट किया गया है।

स्वतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात् किमाहेत्यभिधीयते ।
नेन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे स्वरूपं गृह्यते तथा ॥५७॥

"विषयत्वमनापन्नाः शब्दाः स्वतोऽनिर्ज्ञातरूपा एव भवन्ति। अत एवाऽनवधानैः कैश्चित्पृच्छ्यते 'किमाहे'ति। यदि स्वत एव निर्ज्ञातार्थाः स्युः शब्दास्तदा त्वेतत्प्रश्नमेव न संभवति। यथा च प्रकाश्यस्तु विषयोऽर्थो वा भवति, न पुनरिन्द्रियाणि। अतः प्रकाश्येऽर्थेऽभिप्रेते तेषां स्वरूपग्रहणं नैव भवति, निरर्थकत्वात्। एवमेव शब्दानपि सर्वेऽर्थविशेषेष्वेव प्रयुञ्जते। न च तेषां रूपमात्रेणैव कस्यापि कार्यम्। शब्दस्य ध्वन्यात्मकं रूपन्त्विन्द्रियवत् माध्यममात्रमेव, नान्यथा।"

When, after listening a few words or sentences, someone asks, 'What have you said ?', that means there is nothing like an 'automatic understanding', coming out of the used words. In reality, the object of its usage is 'the thing' to be known, and not the mere phonemic construction. The same is the case with the sensory organs, or senses, as well. Their object of reception is something else than their ownself; they merely being the instruments in reception or realisation of that very object.

"यदि समझने-समझाने का सम्बन्ध शब्द के साथ न होता, और 'शब्द'

की सत्ता का अभिप्राय 'शब्दार्थ' जैसी किसी वस्तु को अनिवार्यतः प्रेषित करने से ही होता, तब 'क्या कहा ?' जैसा प्रश्न किसी शब्द को सुन लेने पर भी न करना पड़ता। ऐसा प्रश्न इसीलिए अनिवार्य हो जाता है कि श्रोता शब्द को सुनकर भी नहीं समझ पाता। अर्थात्, शब्द स्वतः अनिर्ज्ञातरूप है। और, जब किसी शब्द से कोई अर्थ प्रकाशित हो जाता है, तब उस शब्द का 'स्वरूप में ग्रहण' उसी प्रकार महत्त्वहीन हो जाता है, जैसे विषय या वस्तु के स्पष्ट या प्रकाशित होने के बाद इन्द्रियों का 'स्वरूप में ग्रहण' अर्थहीन हो जाता है। अर्थात्, मुख्य बात 'विषय की उपलब्धि' है। उसे उपलब्ध बिना कराए शब्द और इन्द्रियों की सत्ता सामान्यतः महत्त्वहीन है। परन्तु, उसके उपलब्ध हो जाने पर भी उनका प्रयोजन पूरा हो जाने से उनका अपना ग्रहण, या 'स्वरूप-ग्रहण', आवश्यक नहीं रह जाता।"

सिद्धान्त :— शब्दों में स्वयं को स्वतः प्रकाशित करने की सामर्थ्य नहीं होती। और, न ही उनका किसी विषय-विशेष के साथ सम्बन्ध अनिवार्य रूप में रहता है।

टिप्पणी :—तुल० 'उतत्वः पश्यन्०' आदि से, ऋ० १०-७१-४ और १०-७१-६।

भेदेनावगृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोद्धृतौ।
भेदकार्येषु हेतुत्वमविरोधेन गच्छतः ॥५८॥

उभावपि ग्राह्यग्राहकरूपावविरोधेनैव शब्दे निवसत इत्येतत् विविनक्ति—"इत्यतः स्पष्टं यद् द्वापि स्वरूप-विषयरूपौ भेदौ तस्यैकस्याखण्डस्य शब्दात्मन एव द्वौ धर्माविव वर्तेते। अपोद्धारबुद्ध्या वयं तौ भिन्नाविवावग्रहेण ग्रस्ताविव च स्वीकुर्मः। सर्वमिदं भेदकार्याश्रितमेव। यतस्तत्रास्ति भेदकार्यमभीप्सितं यत्रोभयोरपि स्वरूप-विषययोः पृथक्स्वीकरणेन विना कार्यसिद्धिर्नैव संभवति। अतस्तयोः पृथगात्मतया स्वीकारः। परमत्रापि तावुभावपि धर्मौ परस्परमविरुद्धावेव भूत्वा भेदहेतुत्वमुपयातः। अतः उभयोरप्यनयो रूपयोः पृथक् सत्ता प्रयोक्तुर्बुद्धिविकल्पजा बलादेव स्वीकृता च वरीवर्त्ति। सत्या तु सा कथमपि न स्वीकर्त्तव्या।"

Thus, the 'form' and the 'object' are two aspects of the same word, which we treat sometimes as separate entities, with some hypothetical object in our mind. Still, these aspects seem to function harmoniously, without countering each other.

But this separation is merely *hypothetical.*

"इस प्रकार **स्वरूप** और **विषय** के रूप में शब्द के दो धर्म ऐसे हैं, जिन्हें प्रायः हम 'अपोद्धार' की प्रक्रिया द्वारा भिन्न-भिन्न मान बैठते हैं। यह मान्यता इसलिए आवश्यक होती है कि वस्तुतः हमारे सामने कभी-कभी सर्वथा भिन्न स्थितियां आ उपस्थित होती हैं। ऐसी दो भिन्न स्थितियों में हम शब्द के स्वरूप और उसके विषय को पृथक्-पृथक् महत्त्व दे बैठते हैं। परन्तु, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ऐसी स्थितियों में भी ये दोनों तथाकथित पक्ष अविरुद्ध ही रहते हैं।"

टिप्पणी :—अगले दो उदाहरण यह सिद्ध करेंगे कि 'अग्नि' या 'वृद्धि' आदि शब्द स्वरूप में 'एक' रहकर भी किस प्रकार दो भिन्न कार्यों और भावनाओं को वहन करने में, या दो भिन्न उद्देश्यों को व्यक्त करने में, समर्थ होते हैं।

वृद्ध्यादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः ।
आदैच्प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः ॥५९॥

अग्निशब्दस्तथैवायमग्निशब्दनिबन्धनः ।
अग्निश्रुत्यैति सम्बन्धमग्निशब्दाऽभिधेयया ॥६०॥

प्रसंगाधारेण शब्दस्यान्यार्थसूचनं ज्ञापयति—"यथा वृद्धिशब्दः वर्धनव्यापारसूचकं स्वार्थं स्वरूपं वा वहन्नपि 'वृद्धिरादैच्'सूत्रेणाभिहितं आदैचां संज्ञारूपं तस्मिन् तस्मिन् प्रकरणे वहत्येव, आदैचां च पृथक्शो ग्रहणमपि करोत्येव। तदेव सत्यं गुणसम्प्रसारणादिसंज्ञाविषयेऽपि।

"एवमेव अग्नीषोमाग्निदत्तादिस्थोऽग्निशब्दः श्रुतिमात्रेणैव स्वरूपतः स्वसंज्ञया प्रसिद्धं अग्निद्रव्यं नैव सूचयति। केवलेऽग्निशब्दे प्रोच्चरिते

तु नियतं स आत्मनः प्रसिद्धमेवार्थमग्निद्रव्यरूपं सूचयति । परमन्यत्राऽन्यथाऽभिप्रेते वस्तुविषयमधिकृत्यैव स कमप्यर्थं द्रव्यं भावनां वा सूचयति । अग्निदत्तादिष्वङ्गतया च स्वतन्त्रार्थं तु वहृत्येव न ।"

The truth that a word is never 'fixed' in one particular sense only, is proved by the facts. We see the words, like Vṛddhi, Guṇa, Nadī, Samprasāraṇa, etc., are used as technical terms as well, and indicate towards particular sounds or grammatical actions, while still retaining their so-called 'fixed meanings' in common parlance.

The same is true about 'Agni', in the words like 'Agnidatta' and 'Agnīṣoma' etc., where it becomes a 'part' instead of a 'unit' and submerges its identity with the 'meaning' of the 'whole' word. Still it retains its meaning of 'fire' in some other contexts.

Thus the same word may convey several senses, though in different situations, no doubt.

"जिस तरह 'वृद्धि' आदि शब्द 'स्वरूप' में स्थिर रहते हुए भी 'वृद्धिरादैच्' (पा० १-१-१) आदि सूत्रों के द्वारा भिन्न-भिन्न संज्ञावाले शब्दों या अर्थों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करते हैं, अर्थात्, जिस प्रकार उस स्थिति में भी उनका मूलार्थ उनसे छूटता नहीं, और संज्ञारूप ग्रहण करने के बाद भी वह अर्थ उनमें विद्यमान रहता है,

"उसी प्रकार 'अग्नीषोमौ' या 'अग्निदत्तः' आदि में विद्यमान् 'अग्नि' शब्द भी अपने स्वरूप में स्थित रहता हुआ अपने मूलार्थ को भी बचाए रखता है। यह बात अवश्य है कि जहां भी 'अग्नि' नामक द्रव्यविशेष अभिधेय होता है, वहां श्रुतिमात्र से ही 'अग्नि' शब्द उस भावना को स्पष्ट कर देता है। जहां ऐसा अभिप्रेत न हो, वहां वह केवल स्वरूपमात्र से ही विद्यमान रहता है; यद्यपि अर्थात्मक भावना वहां न तो विपरीत होती है, न ही अभिप्रेत होती है।"

टिप्पणी :—उक्त तीनों श्लोकों को सिद्धान्त रूप में अगले श्लोक से समाहृत करके पढ़ा गया है।

यो य उच्चार्यते शब्दो नियतं न स कार्यभाक् ।
अन्यप्रत्यायने शक्तिर्न तस्य प्रतिबध्यते ॥६१॥

शब्दस्यार्थप्रत्यायनशक्तिविषयमुपसंहरते—"उच्चारणात् शब्दस्य स्वं रूपमेव स्पष्टीभवति। तस्य कार्यं प्रयोगहेतुर्वा प्रसंगादिना वक्तुरिच्छां ज्ञात्वैव स्पष्टतयोपलभ्यते। अतः केवलादुच्चारणादेव हेतोः शब्दः कार्यभाक् न भवति।"

"एतावतैवैतदपि सिद्धं यद् यदैव प्रयोक्ता स्वावश्यकतानुसारं कमपि शब्दविशेषं प्रसिद्धादर्थाद् व्यतिरिक्ते कस्मिंश्चिदन्यस्मिन्नप्यर्थे प्रयोक्तुं स्वतन्त्रस्तथैव शब्दोऽपि प्रख्यातमर्थं वहन्नपि कस्याप्यन्यस्यार्थस्य प्रत्यायने समर्थो भवति। स चार्थस्तस्य शब्दस्यैव स्वीक्रियते।"

अत्र द्वौ सिद्धान्तौ : उच्चारणादेव केवलादर्थो न विद्यते;
शब्दस्यैकार्थे ह्येव प्रयोगो न सीमितः, प्रयोक्तुरधीनत्वात्तस्य। स्वरूपगतमैक्यं तु सर्वत्र तिष्ठत्येव।

Every pronounced word does not accomplish its task merely by virtue of its pronouncement, unless it is used as a part of any statement. And in that case also, it does not carry the so-called 'fixed meaning' only. Instead, it retains its unobstructed power of conveying some other senses also. Thus a word has nothing like a 'fixed meaning'. Instead, it has something like 'generally understood meaning', which may be replaced at some places and in particular contexts.

Still the 'word' remains the same, and its seemingly 'different senses' co-exist in it, unobstructedly.

"केवल उच्चारणमात्र से ही यह सिद्ध नहीं हो जाता कि शब्द अपने वास्तविक प्रयोजन को पूरा करने में समर्थ हो गया है। और, न ही एक अर्थ को स्पष्ट करने के बाद उस शब्द के द्वारा अन्यत्र अन्यार्थों के वहन-व्यंजन की सामर्थ्य का प्रतिबन्ध हो जाता है। 'उच्चारण' से उसका केवल स्वरूप ही स्पष्ट होता है। शब्द के विषय की स्पष्टता के लिए प्रयोक्तृभावना को पा लेना या जान लेना अधिक आवश्यक है। परन्तु, प्रयोक्तृभावना का महत्त्व स्वीकार करते ही यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि यदि प्रयोक्ता चाहे, वह एक ही शब्द को सामान्यतः ज्ञात 'विषय' से अन्यत्र भी, भले ही मूल से अविच्छिन्न रहते हुए, ले जा सकता है।"

सिद्धान्त :—अतः यहां निम्न बातें स्पष्ट हुईं :

क. शब्द का उच्चारण मात्र ही उसकी विषयग्राहिता का प्रमाण नहीं है।

ख. एक शब्द का प्रयोग केवल एक ही 'अर्थ' के प्रत्यायन तक सीमित नहीं रहता। कालान्तर और प्रयोगान्तर में, मूलभावना के अविच्छिन्न रहने पर भी, वही शब्द पहले प्रयोगों से भिन्न भावनाओं में प्रयुक्त हो सकता है।

ग. एक अन्य बात इससे अन्यथा भी सिद्ध होती है कि एक बार के प्रयोग में शब्द किसी एक ही भावना या विषय में प्रयुक्त होता है। परन्तु, अन्यत्र प्रयोग में वह भिन्न 'प्रत्यय' को भी जन्म दे सकता है। उसकी एकता तब 'स्वरूपात्मक' ही रहती है।

टिप्पणी :—ऊपर दिए गए उदाहरणों में 'वृद्धि' शब्द पाणिनीय सूत्र में कुछ वर्णविशेषों की संज्ञा के रूप में प्रयोग हुआ है, जब कि उसका सामान्य अर्थ 'बढ़ती' के रूप में भी रहता ही है। इसी प्रकार 'अग्निदत्त', 'अग्नीषोम' तथा 'अग्निः' में 'अग्नि' शब्द स्वरूप की दृष्टि से समान ही है। भिन्न प्रयोगमात्र से ही उसे भिन्न शब्द नहीं माना जा सकता। उसके प्रयोग के पीछे उसके अस्तित्व का मूलाधार उसका यह 'स्वरूप' ही है, यद्यपि केवल स्वरूपसाम्य के कारण ही हम सर्वत्र उससे 'जलने और प्रकाश देने वाली अग्नि' की भावना लेने नहीं बैठ जाएंगे। उस दशा में प्रयोजन का मुख्य उद्देश्य, जो केवल उस विषयमात्र को बताना नहीं है, पीछे छूट जाएगा। अतः एक विषय से सम्बद्ध होकर भी 'अग्नि' का प्रयोग अन्यान्य स्थानों पर अन्यान्य अर्थों में भी योगदान दे सकता है। यद्यपि वहां भी वह स्वरूप की दृष्टि से मूल 'अग्नि' से अभिन्न ही रहता है। अर्थात्, वह 'संज्ञा' आदि के निर्माण में योगदान दे ही सकता है। वहां वह मूल विषय से भिन्न न होकर भी उसका कथन नहीं करता, क्योंकि अब उसका लक्ष्य किसी संज्ञा का कथन करना है।

इसका कारण अगले श्लोक में दिया गया है।

उच्चरन् परतन्त्रत्वाद् गुणः कार्यैर्न युज्यते।
तस्मात्तदर्थैः कार्याणां सम्बन्धः परिकल्प्यते ।।६२।।

चतुर्भिः श्लोकैर्लक्षणाद्यन्तर्गतानामर्थानां पदार्थेन कथमभिधानमिति कथयति—"गुणास्तु परतन्त्रा एव, पदार्थाऽऽश्रितत्वात्। शब्दस्योच्चारणमात्रेणैव तेषां कार्यैः पदार्थादिभिः सम्बन्धो नैव सिद्ध्यति। विविधेषु प्रसंगेषु गुणवैविध्यमुपयुज्यमानं दृश्यते। अतस्तत्र तत्र कार्ये

तस्य तस्य गुणस्योत्कर्षमभिप्रेत्यैव गुणार्थैर्गौणार्थैर्वा कार्याणां प्रयोजनानामर्थानां वा सम्बन्धो लक्षणादिकया विधिना परिकल्प्यते । परमेतत्तु स्पष्टमेव यदेतत्सर्वं खलु प्रकल्पनामात्रमेव, नाऽथ सत्यम् । यतो हि नैक एव गुणः सर्वत्राभिमतो भवत्येकस्मिन् द्रव्यविषये ।"

अन्ये पुनः 'ध्वनिगुणोऽयं शब्दः' इति महाभाष्यप्रोक्तमिदं वचनमनुसृत्य "ध्वनिगुणो वर्णादिसम्पन्नः शब्दः उच्चारणपरतन्त्रत्वादुच्चरन्मात्र एवार्थकार्यं प्रत्यायनकार्यं वा कर्तुं नैव शक्नोति, प्रसंगादिज्ञानेनैव तस्य संभवः" इत्यादिकां व्याख्यां कुर्वन्ति । भाषाविज्ञानदृष्ट्या साधुतमाऽपीयं व्याख्या सत्या तु नैव । अग्रिमे तु प्रसंगे सामान्याद्याश्रितस्य गुणस्याभिधानात् ।"

After all the *qualities* reside in a particular *substance*. Those never exist independently. Hence, merely by pronouncing a quality-word, the quality as such is never denoted. The quality is dependent on the meaning of that word. Due to this very meaning we come to know that this quality is denoted by this particular word.

In other words: Guṇa refers to an abstract quality, which becomes explicit only through the medium of a substance. This very substance is denoted by the so-called 'qualitative word', and not an abstract quality as such. Thus, the meaning of the Guṇa becomes inseparably related, rather united, with that of the 'substance.'

" 'कार्य' की अपेक्षा 'गुण' सदा **परतन्त्र**, और इसीलिए **गौण**, होते हैं । 'कार्य' या 'विषय' परतन्त्र नहीं है । इसीलिए स्वतन्त्र 'कार्य' और परतन्त्र 'गुण' साथ-साथ नहीं रह सकते । कम से कम, उनका योग या सम्बन्ध एकत्र सिद्ध नहीं होता । इसीलिए 'कार्य' और 'गुणार्थ' के बीच सम्बन्ध की परिकल्पना करनी पड़ती है । 'लक्षणा' आदि के रूप में यह अन्ततः 'परिकल्पना' ही है : **वास्तविकता से बहुत दूर की बात** । वास्तव में किसी ऐसे कल्पित सम्बन्ध को बिना माने भी उन्हें एक ही शब्द अथवा स्वरूप में स्थित माना जा सकता है । उनका सम्बन्ध, इस प्रकार, **स्वरूप** से है ।"

टिप्पणी:—'कार्य' का अर्थ यहां प्रयोगार्ह या 'अनित्य' पदों से भी लिया जा सकता है । अर्थात्, 'गुण का सम्बन्ध सभी प्रयुक्त पदों से नहीं होता । उनका सम्बन्ध 'प्रकृतिपदों' से ही होता है ।' पर, यह अर्थ उचित नहीं है ।

एक और अन्तर इस प्रकार हो सकता है कि 'गुण' का अर्थ 'ध्वनिगुणोऽयं शब्दः' के अनुसार 'ध्वनि' लिया जाए। उस स्थिति में अर्थ होगा : "क्योंकि ध्वनि या नाद उच्चारण-प्रक्रिया के बिना नहीं हो सकते या वे उसके अधीन है, इसलिए उनका सम्बन्ध 'विषय' या 'भावना' के साथ सिद्ध नहीं होता।" 'उच्चारण' इन्द्रियों के अधीन है, और 'विषय' का सम्बन्ध इन्द्रियों से नहीं है। इस दृष्टि से 'विषय' या 'आत्मा' का सम्बन्ध 'शब्द' के 'स्वरूप' से माना जाता है, या माना जाना चाहिए। 'ध्वनि' तो उत्पन्न होकर विनष्ट होने वाली वस्तु है।

इनमें से यह अन्तिम अर्थ भाषातत्त्व की दृष्टि से अत्याधक महत्त्वपूर्ण है। पर, अगले प्रकरण को देखते हुए 'गुण' को सामान्य 'वस्तुधर्म' के रूप में ही समझना अधिक उचित है। वहां 'सामान्य धर्म' की चर्चा में 'गुण' का महत्त्व 'प्रकर्ष-हेतु' के रूप में आया है। अतः वहां 'ध्वनि' आदि अर्थ उचित नहीं ठहरेंगे।

सामान्यमाश्रितं यद् यदुपमानोपमेययोः ।
तस्तस्योपमाने स धर्मोऽन्यो व्यतिरिच्यते ॥६३॥

"उपमानोपमेययोश्चर्चाप्रसंगे योऽपि गुणः सामान्यधर्मरूपेण स्वीकृतः, स एव यदा उपमानत्वं वहति, तदाऽन्य एव कश्चिद् गुण-स्तस्य प्रकृष्टतां ख्यापयन् मुख्यतामावहति। क्वचिद् गुणोऽन्यत्रोप-मानत्वं द्रव्यरूपतया वहत्येव। अत एव क्वचिद्गौणोऽन्यत्र मुख्यो भवति।"

At one place we may find one common quality relating Upameya with Upamāna. But at the other, the same quality may become the object of comparison with some other quality. And we may find, then, that some other 'quality', or the source of 'commonness' has been found, as a relating factor, in the new situation. Or, different sources of commonness may be described in different situations, relating the same things.

"उपमा के प्रसंग में उपमान और उपमेय में समानता बताने वाले सामान्य धर्म के रूप में जो भी गुण अभिप्रेत होता है, वही अन्य प्रसंग में मुख्य वर्ण्य बन जाता है। तब उसको उपमान मान कर उसमें किसी नए गुण की चर्चा की जाती है। गुण का कार्य **व्यतिरेक** या आधिक्य बताना होता है। अतः पुराकथित गुण के उपमान बन जाने पर किसी अन्य गुण की अपेक्षा उसकी अधिकता या

उत्कर्ष बताने के लिए उसमें किसी अन्य गुण की मुख्यता बतानी पड़ती है। इसलिए 'गुण' और 'गौणार्थ' नाम से कोई निश्चित वस्तु नहीं कही जा सकती।"

टि०—यहां लक्ष्यार्थ या गौणार्थ नाम के किसी अर्थ की सत्ता को स्वीकार न करने का कारण बताया गया है। जब कोई 'गुण' ही सर्वत्र एकसा रूप नहीं रखता, तब उसका तथाकथित कोई अर्थ कैसे स्थिर माना जा सकता है ? एक स्थान पर वर्णित 'गुण' अन्यत्र 'द्रव्य' का रूप धारण कर लेता है।

गुणः प्रकर्षहेतुर्यः स्वातन्त्र्येणोपदिश्यते ।
तस्याश्रिताद् गुणादेव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते ॥६४॥

"एकत्र प्रकर्षद्योतको प्रकर्षस्य हेतुभूतो वा कश्चिद् गुणो यदाऽन्यत्र स्वतन्त्रतया वर्ण्यते, तदा तदाश्रिता एव अन्ये गुणास्तस्य प्रकृष्टतां ख्यापयन्ति। स तु तत्र द्रव्यमिव तिष्ठति।"

The **quality** signifies a particular **thing** and, thereby, differentiates it from several other things. But, when this very quality is described as a 'thing', and is desired to be differentiated from others, then we take recourse to some other 'quality', which also resides in the same thing, denoting its superiority over the others. In this way, some qualities may reside in other qualities as well ; the latter becoming a 'thing' in that case.

" 'गुण' नाम से कोई भी वस्तु स्थिर नहीं कही जा सकती। गुण का कार्य है किसी द्रव्य की अन्य से **प्रकृष्टता** बताना। परन्तु अन्यत्र जब उसी गुण को 'द्रव्य' की भांति स्वतन्त्र रूप से वर्णित किया जाता है, तब स्वयं उसका प्रकर्ष बताने के लिए किन्हीं अन्य 'गुणों' को बताना पड़ता है। इस भांति वहां भूतपूर्व गुण 'द्रव्य' की भांति आचरण करता है। अर्थात्, गुण भी गुण के आश्रित होकर रह सकते हैं।"

टि०— पूर्वोक्त श्लोक की भांति यहां भी 'वाक्यपदीय' के 'पदकाण्ड' के 'गुणसमुद्देश' में कहे 'गुण' के लक्षण को स्पष्ट करने में 'लक्षणा' जैसी शक्ति को 'अनिश्चित' और अस्थिर बताया गया है। **'गुणा गुणाश्रिताः प्रोक्ताः'** वाली बात भी यहाँ स्पष्ट हो जाती है।

तस्याभिधेयभावेन यः शब्दः समवस्थितः ।
तस्याप्युच्चारणे रूपमन्यत्तस्माद् विविच्यते ।।६५।।

गुणविषयं विवेचयन्नेव गुणं प्रख्यापयन्तं संज्ञाशब्दमपि विवृणोति—"तस्य गुणस्याभिधेयभावेन यः शब्दः प्रयुज्यते, ध्वन्यात्मक उच्चारणकाले तस्य शब्दस्य रूपं तस्माद् गुणात् पृथक्कृत्यान्यदिव गृह्यते विविच्यते च। अतो रूपस्य तादर्थ्यस्य च पृथक्त्वं नैसर्गिकमिति सिद्ध्यति। अनेनैवैतदपि सिद्ध्यति यत्संज्ञात्मकत्वेन यः शब्दो गुणवाच्यत्वेन स्थितः, सः स्वतोऽभिहिताद् गुणाद् व्यतिरिक्त एव भवति, गृह्यते च तथैव। तस्मिन्नभिधेयभावेन गुणः स्थितो भवति, न तु प्रकर्षभावेन। संज्ञा हि द्रव्याद् व्यतिरिक्तेति स्पष्टोऽयं सिद्धान्तोऽत्र।"

The so-called 'qualitative word' is evidently different, or at least it appears to be different, from the 'quality' itself. It denotes a particular quality, though it is not a 'quality' itself. Their possessive nature makes these words indifferent with the Common Substantives.

"गुण और गुणवाचक शब्द में मौलिक अन्तर यह है कि गुण द्रव्य में रहता है और उसके प्रकर्ष को बताता है। गुणवाचक शब्द 'संज्ञा' शब्द के रूप में रहता जो उस प्रकर्ष का सूचक बनकर भी रहता है और समय आने पर उस गुण वाले द्रव्य के लिए, या फिर द्रव्यभूत गुण के लिए, भी प्रयुक्त होकर रहता है। इसका अर्थ यह कि उच्चरित मात्र होने से ही गुणवाचक शब्द 'गुण' नहीं बन जाता, वह 'गुण का वाचक' अवश्य रहता है। अतः मूलभूत तत्त्वात्मक गुण और उसके अभिधेय शब्द में भी मूलगत और तात्त्विक भेद रहता ही है।"

टि०—'संज्ञा' और 'द्रव्य' में जो अन्तर होता है, वही अन्तर 'गुणवाचक शब्द' और उससे अभिहित 'गुण' में गिना जाना चाहिए। अन्ततः गुणवाचक शब्द भी एक 'संज्ञा' ही है।

प्राक् संज्ञिनाऽभिसम्बन्धात् संज्ञा रूपपदार्थिका ।
षष्ठ्याश्च प्रथमायाश्च निमित्तत्वाय कल्पते ।।६६।।

संज्ञायाः संज्ञिनोऽभिसम्बन्धात्प्रागुत्तरं च कार्यान्तरत्वं ज्ञापयति—

"संज्ञिविशेषेणाऽभिसम्बन्धात् प्राक् भाविन्या संज्ञया पदार्थभूतं रूपमात्रमेवाभिव्यज्यते। अत एव 'प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (पा० २. ३. ४६.) इत्यनेन प्रातिपदिकार्थद्योतनात् तस्य शब्दस्य प्रथमात्वं जायते। परं संज्ञात्वे तु तस्य 'तस्येदम्' (पा० ४. ३. १२०) इत्यर्थे 'साऽस्य देवता' (पा० ४. २. २४) इत्यर्थे वा षष्ठ्यर्थो द्योत्यते। द्रव्यस्तत्र षष्ठ्यात्मकत्वेन सूच्यते। प्रथमात्वे सा स्वार्थं सूचयति। संज्ञात्वे च सा स्वयाऽधिकृतं पदार्थमभिव्यनक्ति। स्वार्थसूचना च प्रथमया पदार्थाभिव्यक्तिश्च षष्ठ्या सूच्यते।"

Any Noun denotes primarily the form of a substance, before it is finally related with that particular **thing**. Thus, the indicated *form* becomes its primary meaning. Pāṇini says that a Noun is used in the *Nominative case,* only with the idea of denoting its individual indication or meaning. Substantive's relation with a particular **thing** is denoted by its *'possessive'* capacity over that thing. In turn, it is denoted by the *Genitive* or *Sixth* case ; *i.e.,* Sambandha Kāraka or Ṣaṣṭhī Vibhakti.

"संज्ञी से सम्बन्ध होने से पहले **संज्ञा** 'स्वरूप' या 'रूप' को ही 'पदार्थ' के रूप में द्योतित करती है। अर्थात्, तथाकथित 'संज्ञाशब्द' के स्वरूप से जो अर्थ प्रतीत होता है, बिना 'संज्ञा' बने वही **पदार्थ** उस संज्ञा का समझा जाता है। किन्तु, 'संज्ञा' रूप ग्रहण करने के बाद वह 'प्रथमा' और 'षष्ठी' के प्रयोग का निमित्त बन जाती है। अर्थात्, तब वह या तो 'सोऽयम्' के द्वारा या 'साऽस्य संज्ञा' के रूप में 'सज्ञी' का बोध कराने का कारण बनती है। अर्थात्, तब उससे 'संकेत' या 'अधिकृत द्रव्य' की प्रतीति होने लगती है।"

तत्रार्थवत्त्वात् प्रथमा संज्ञाशब्दाद् विधीयते।
अस्येति व्यतिरेकश्च तदर्थादेव जायते ॥६७॥

तदेव विवृणोति :— ,

"पाणिनिमते 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमे' (पा० २. ३. ४६) ति सिद्धान्तः। अनेनैतत् सिद्ध्यति यत् संज्ञा यदा प्रथमायां तिष्ठति, तदा तया स्वार्थ एव विद्यते, स एव चेष्यते।

प्रथमाविधानं तस्या अर्थवत्त्वादेव संभवतीति। कस्येयं संज्ञेत्याधिक्यमपि संज्ञाया अर्थादेव जायते ज्ञायते च। एवं षष्ठीप्रयोगोऽपि संज्ञार्थादेव प्रतीयते।

"अयमप्यर्थोऽस्य यत् षष्ठीप्रयोगेण तत्सूचितस्य द्रव्यस्यान्येभ्यो व्यतिरेको विद्यते। प्रथमया च संज्ञार्थस्य पदार्थस्य वाऽपि सूचना दीयते। व्याकरणस्थानां नदीघुसर्वनामादिसंज्ञानामपि विषये तदेव सत्यम्। 'वृद्धिरादैच्' (पा० १.१.१) इत्यत्र 'आदैचां वृद्धिसंज्ञा स्यात्' इत्यनया वृत्त्या षष्ठ्यर्थोऽस्याः प्रयोगहेतुश्च स्पष्टमेव।"

Nominative case is used only because of this *indication* or meaning of any Noun. Even the Proper Noun, gives at first the indication of a '*common* form' of that '*particular* thing.' It is only after this, that the relation between the Thing and the Noun becomes established. This relation is evident by the mere virtue of its possessive nature. The true possessive nature of any Noun is indicated by the words like—"this noun is indicative of this thing" etc.

इनमें से भी 'प्रथमा' का प्रयोग प्रायः संज्ञा के **प्रातिपदिकार्थ** या पदार्थ की प्रतीति के लिए किया जाता है। अर्थात्, उसके प्रथमान्त प्रयोग से प्रधानतः संज्ञा के पदार्थ की ही प्रतीति होती है। 'कर्त्ता' के रूप में उसका कथन वहां द्वितीय कोटि का बन जाता है।

" 'षष्ठी' के द्वारा 'यह शब्द इस द्रव्य की संज्ञा है' के रूप में होने वाली प्रतीति उस द्रव्य को अन्यों से व्यतिरिक्त सिद्ध करती है। परन्तु, यह **व्यतिरेक** भी संज्ञा के उस तथाभूत 'पदार्थ' के कारण ही, या उसके द्वारा ही, संभव हो पाता है।"

टिप्पणी :—यहाँ पाणिनि के २-३-४६ (प्रातिपदिकार्थलिंग परिमा०) एवं 'सास्य देवता' (४-२-२४) आदि संकेतों के वक्तव्य विषय को उठाकर सुलझाया गया है।

यहाँ एक बात यह अवधेय है कि **वृद्धि**, **घु**, **नदी**, आदि पाणिनीय 'संज्ञाओं' का विचार प्रसंग भी ५९ कारिका से चला आ रहा है। उस दृष्टि से इस कारिका का अर्थ यह होगा :—

"संज्ञी वर्ण, शब्द, आदि से सम्बन्ध होने से पूर्व विविध संज्ञाओं का अपना कोई पदार्थ रहना संभव है। यथा **नदी**, **घु**, आदि संज्ञाएं अपने-अपने अर्थ को भी

वहन कर सकती हैं। किन्तु, एक बार 'वृद्धिरादैच्' आदि के रूप में 'संज्ञी' से सम्बन्ध हो जाने के बाद, वह प्रथमान्त या षष्ठ्यन्त प्रयोग के द्वारा ही अपने संकेतित या वेदितव्य विषय को द्योतित करती है।" व्याकरण की दृष्टि से यह अर्थ अधिक उचित है। किन्तु, पूर्वोक्त सामान्य अर्थ भी इससे भिन्न नहीं है।

स्वं रूपमिति (स्वरूपमिति) कैश्चित्तु व्यक्तिस्संज्ञोपदिश्यते।
व्यक्तेः (जातेः) कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते॥६८॥

संज्ञायाः स्वरूपं व्यक्तिर्जातिर्वेत्येतद् विवृणोति :—

"पाणिनेः 'स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसंज्ञा' (पा. १. १. ६८) इति सूत्रे केचन विद्वांसः संज्ञाया व्यक्तिरूपमेव विवेचितं मन्यन्ते। तेषां मते संज्ञया द्रव्यस्य सामान्यत्वसूचनापेक्षया व्यक्तिसूचनमेव प्रमुखतया लक्ष्यते। द्रव्यत्वं त्वाकृतिसामान्याज्जातित्वमेवावहति। द्रव्यात्मरूपेण यद् व्यक्तिरूपमभिप्रेतं भवति संज्ञा तदेवावहति, व्यक्तिसंकेतिका चैव भवति—इत्येषा तेषां मतिः। अत्र 'स्वं रूपं' इत्यस्य स्थाने 'स्वरूप' मित्यपि पठ्यते। तदा चास्यार्थो विस्पष्टमेव। सज्ञायाः स्वरूपं व्यक्तिस्वभावात्मकमेवेत्यभिप्रायः।

"सा संज्ञा यां व्यक्तिं सूचयति, सा तु जातेः कार्याण्यप्यावहत्येव। तस्यां व्यक्तिजातिपार्थक्यं सर्वथा विनिश्चेतुं, नैव शक्यते, व्यामिश्रत्वात् तयोः। व्यक्तिकार्याण्येवाश्रितानि जातिकार्याणि। प्रातिलोम्येन वा तानि स्थितानि। अस्यायमर्थो यद् व्यक्तिजात्योर्नैव तथा पृथक्करणं संभवत्येकद्रव्याश्रितत्वात्। व्यक्तिजातिकार्याणि व्यामिश्राणीव तस्मिन्नेकस्मिन्नेव द्रव्ये स्थितानि भवन्ति। व्यक्तिसूचकानि कार्याणि तस्य व्यक्तिरूपं सूचयन्ति, जातिकार्याणि च तस्य जातित्वं सूचयन्ति।

"अन्ये पुनः पठन्ति—'जातेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते'। प्रयोजनं तु तदेव। एकेषां मते यदि संज्ञाया व्यक्तिरूपं प्रधानं, तदाऽन्येषां मते तस्या जातिरूपमेव प्रधानम्। परं भर्तृहरेरभिमतं त्वन्यदेव। यथोक्तरीत्या भर्तृहरिरन्यत्रापि प्रपञ्चयति : 'या हि

व्यक्तिः सैव जातिर्या च जातिः सैव व्यक्तिरपि विद्यते ।' तत्सर्वं स्पष्टं जातिसमुद्देशे ।

"अतो भर्तृहरिमतेन 'व्यक्तेः कार्याणि संसृष्टा जाति'—रित्येव पाठः समीचीनः । तस्याभिमतं च "संज्ञा मूलतो व्यक्तिरूप-मेवावहति सूचयति च । परं तस्याः सूचितं व्यक्तिरूपं जातिकार्यैरेव संसृष्टम् । अतस्तया तस्यैव द्रव्यस्य जातिकार्यमपि द्योत्यते । अतो हि संज्ञायाः जातिरूपमपि स्वीकर्त्तव्यम् ।"

Because of its two different readings, it has two different meanings :

1. "Some say that the nature or the reality of a Noun is to indicate towards an individual. But as the same individual has some actions or behaviours common to others, so due to those common actions or behaviours that noun denotes also the Commanunity of it as well.
2. "In Pāṇini's opinion the Proper Noun relates to an Individual and its form only. But at the same time, it is also indicative of a 'Community', represented by that 'individual', because the latter has most of the common qualities along with its individual qualities."

इस श्लोक के दोनों पाठभेदों के आधार पर यह अर्थ होगा :—

१. "कुछ लोग संज्ञा को 'व्यक्ति' ही मानते हैं । उनकी दृष्टि में यही उसका वास्तविक स्वरूप है । उनकी दृष्टि में 'जाति' भी 'व्यक्ति' के कार्यों में ही अन्तर्हित या उसी से संनद्ध होती है । अर्थात् व्यक्ति के द्वारा ही जाति का भी भान हो जाता है । इस प्रकार, इनकी दृष्टि में, संज्ञा का वास्तविक रूप व्यक्ति है, जातिरूप उससे ही सूचित होता है ।"

२. "पाणिनि ने 'स्वं रूपं' सूत्र में संज्ञा को शब्दरूप से सम्बन्ध नहीं माना है । अर्थात्, प्रातिपदिकार्थ की दृष्टि से वह शब्द संज्ञा रूप में महत्त्वपूर्ण नहीं रहता । फिर भी संज्ञाशब्द से किसी द्रव्य की जो सूचना प्रातिपदिकार्थ के रूप में मिलती है, वह उसके 'व्यक्ति रूप' का ही परिचय देती है । परन्तु, हर 'व्यक्ति' के कुछ कार्य या गुण 'जाति'मात्र में सामान्यतः उपलब्ध होते हैं । उन सामान्य तत्त्वों के कारण हर व्यक्ति 'जाति' में भी अन्तर्गृहीत होता है । अर्थात् संज्ञा का आरम्भिक रूप यद्यपि

'व्यक्ति' का ही होता है, तब भी उसके द्वारा उस व्यक्ति की जाति-सामान्यता का बोध होता ही है।"

टिप्पणी :—इसमें पाणिनि के सूत्र स्वं रूपं शब्दस्याऽशब्दसंज्ञा' (पा० १. १. ६८) के आधार पर 'संज्ञा' के स्वरूप की चर्चा की गई है।

संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यामथापरे ।
जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपष्ठिते ।।६६।।

संज्ञाया जातिव्यक्तिप्रकरणमुपसंहरमाणः प्राह :—

"अथाऽपरे विद्वांसः सूत्रे ग्राह्यां व्यक्तिमिव संज्ञिद्रव्यमपि मन्यन्ते। यथा सूत्रे व्यक्तिरूपेणैव मण्यादयः स्थिता भवन्ति, सूत्रं च सामान्यं सम्बन्धकारकं तेषां, तथैव सूत्ररूपेण सम्बन्धस्थापके द्रव्यसामान्यत्वे स्यितेऽपि सज्ञिद्रव्यानां व्यक्तिरूपमेव प्रधानतां याति। सामान्यसूत्रभूतया जात्या व्यक्तिरेव प्रत्याय्यते। तस्याः प्रदेशेषु व्यक्तिरूपस्यैव तत्र तत्र दर्शनात्।"

Other Scholars think the Noun (as also Proper Noun for that matter) as Individual or Particular, which is united with other similar individuals through a uniting link. In the case of a garland all the separate individual flowers or beads are united through a Common piercing thread. This uniting thread, in linguistic terms, is nothing but Jāti (community), which retains and represents the commonness lying hidden in each one of the participant individuals. In reality, even an individual is recognised at first sight due to its common features, while signifying itself only the regional or individual status.

"कुछ विद्वान् सूत्रों में गृहीत मणि आदि की भांति ही संज्ञावान् द्रव्य की वैयक्तिक स्थिति स्वीकार करते है। अर्थात्, जिस प्रकार माला में सामान्य सम्बन्धस्थापक सूत्र के रहते हुए भी प्रत्येक मणि अपना व्यक्तिरूप सुरक्षित रखती है, उसी प्रकार जाति के रूप में सामान्य सूत्र रहते हुए भी प्रत्येक संज्ञि-द्रव्य अपनी व्यक्तिस्थिति को भी बचाए रखता है। कारण यह कि जाति के सामान्यतासूचक कार्यों या लक्षणों को ही अलग-अलग लेने से अनेक व्यक्ति-रूप सामने आते हैं।"

टिप्पणी :—'सूत्रे ग्राह्याम्' का अर्थ गुण, वृद्धि, नदी, आदि सूत्रस्थ संज्ञाओं से भी लिया जा सकता है। वे 'संज्ञाएं' व्यक्तिरूप से पृथक्-पृथक् स्वसूचित द्रव्यों के लिए भी रूढ़ हो सकती हैं, जबकि समाहार रूप में से सबका सामान्य सूचन भी करती ही है। 'आ, ऐ, औ,' आदि को व्यक्तिशः भी 'वृद्धि' संज्ञा से अभिहित किया ही जाता है, क्योंकि वे 'वृद्धि' नाम से ज्ञात सामान्य ध्वनिराशि के प्रादेशिक अंग जो हैं।

कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिदेकत्ववादिनः।
कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिन्नानात्ववादिनः ॥७०॥

कथितमेव पूर्वं यन्नैमित्तिकप्रायोगिकभेदात् स्वीकृतौ द्वौ शब्दरूपौ बुद्धिभेदादेकस्यैव ह्यात्मनो भेदौ स्तः। अधुना तयोरेव भेदयोः कार्यत्वनित्यत्वरूपेण प्रतीतिः संभवति। परमत्रान्यदपि किंचिन्महत्तरमभीप्सितम्। अग्रिमेषु चतुःपंचसु श्लोकेषु वर्णपदवाक्यादीनामेव वर्णनं, तेषामर्थवत्ताविचारश्च। अतस्तदवलोक्य कार्यतानित्यताविवेचनमपि वर्णपदादीनामेव स्वीकृतोऽस्माभिः—

"केषांचन मते कार्यत्वदृष्ट्या नित्यतादृष्ट्या वा वर्णपदवाक्यानां परस्परमेकैकशो वा नैव कथंचिदपि पृथक्त्वं भिन्नता वा विद्यते। ते तु खल्वभिन्नत्वेनैव कार्यरूपमप्यावहन्ति नित्यरूपमपि च। परं सन्त्यपरे पुनरालोचका येषां मते तेषां नित्यत्वकार्यत्वभेदयोः सर्वथा पृथक्त्वमेव सिद्धयति, नान्यथा। अतएव ते प्रयोगसंख्यानुसारं तेषामपि नानात्वं संभावयन्ति।"

In the following passages we will find the mention of the Phoneme (Varṇa), the Usable Word (Pada), and the Sentence (Vākya). There may be many more divisions of this kind. But there are two distinct Schools of thought regarding their individual, or otherwise, existence. According to *one*, these differences relate to the 'form' only. From the point of view of purpose, all of these 'forms' are nothing but the parts of one and the same thing, *i.e.*, of one and indivisible 'statement'. Or, they are retained in the mind in that form and don't differ or multiply depending on the number of their pronouncements.

According to the *other* School, every time they are pronounced, they have separate existence.

यहां कार्य और नित्य का विवेचन 'शब्द' के विषय में न होकर वर्ण, पद, वाक्य के उभय रूपों के प्रसंग में है—

"कुछ आचार्य वर्ण, पद और वाक्य के प्रायोगिक अथवा नैमित्तिक रूपों को परस्पर अभिन्न और एकात्मा स्वीकार करते हैं। किन्तु कुछ दूसरे आचार्य इनके दोनों रूपों की परात्पर भिन्नता मानते हैं, और इसीलिए 'नानात्व' की कल्पना करते है। अर्थात्, जितनी बार भी इनका प्रयोग होता है, उतनी ही सख्या में ये नए बनकर सामने आते है।"

टिप्पणी:—यहाँ शब्द के कार्य और नित्य रूपों की चर्चा नहीं है। 'इन्द्रिय-नित्यं वचनमौदुम्बरायणः' के रूप में यास्कवचन, 'किं पुनरिमे वर्णा अर्थवन्तः ?' की महाभाष्य की शंका, एवं वार्ष्यायणि के 'एकैकवर्णवर्तिनी वाक्' आदि मतों की विवेचना के रूप में यह उपसंहार प्रस्तुत है। वर्ण, पद, वाक्य आदि का परस्पर क्या सम्बन्ध है, एवं उनके 'एकत्व-नानात्व' का क्या अर्थ है ?, इत्यादि प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर ही इन पाँच श्लोकों में दिया गया है।

पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते ।
वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते ॥७१॥

"यथा परस्परं भिन्नेष्वपि वाक्येष्वेकमेव पदं पुनःपुनः प्रयुक्तो दृश्यते, तथैव भिन्नेष्वपि पदजातेषु तदेव वर्णजातं पुन.पुनरपि प्रयुज्यमानो दृश्यते। तस्य चैकत्वं सर्वत्रापि सुनिश्चितमेव। देशकालावस्थाव्यत्ययादिभिन्नत्वात् तन्नैव भिद्यते। पुनःपुनरुच्चार्यमाणत्वात् संख्याभेदमात्रमेव सिद्धयति, न तु कश्चनात्मनो भेदः; संख्याभेदस्यापि एकत्वादेव जन्महेतोः संभवात्। आत्मैकत्वादेव पदस्यापि भिन्न-कालादिष्वुच्चार्यमाणस्य संख्याभेदेप्यैकत्वं नैव व्यवच्छिद्यते।"

We may pronounce different padas at different occasions, still their similar sounds may be accepted as 'one' and 'the same'. The multiplicity of number is related to the 'pronunciation', and not to the phoneme or the word as such;

their unified existence being the subject of 'mind'. Pronunciation helps it to be expressed again and again. The same is true about a 'pada' being used in so many different sentences. Separate existence in different sentences does not make it different, basically, every time.

"भिन्न-भिन्न पदों में प्रयुक्त होने पर भी कोई वर्ण आत्मा या वास्तविकता की दृष्टि से एक और अभिन्न ही रहता है। उसी प्रकार, जैसे कि भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रयुक्त होने पर भी समानाकृति और समान भाव वाला वही पद मूलतः 'एक' ही रहता है, और अवस्थादेशकालादिभेद से, या संख्या भेद से, ही अनेक या भिन्न स्वीकार नहीं किया जा सकता।"

टिप्पणी :—महाभाष्य के द्वितीय आह्निक में 'अइउण्' माहेश्वर सूत्र की व्याख्या में **'आवृत्तिसंख्यानाद् वा'** से आरम्भ होने वाले विवेच्य विषय को ही यहाँ लिया गया है। **'युगपद्देशपृथक्त्वदर्शनाद्वा'**, **'आकाशदेशा अपि बहवः'**, आदि विविध वार्त्तिकों का विवेचन इसमें हो गया है। अन्ततः भर्तृहरि और पतंजलि वहां साफ़ और समान रूप से घोषित करते हैं : **'आकृतिग्रहणात् सिद्धम्'**, —**"तयोस्त्वाकृतेर्न व्यवधानं, व्यवच्छेदो वा** (त्रिपदी)"; **'रूपसामान्याद् वा'**, आदि।

न वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यच्च विद्यते।
वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किंचन ॥७२॥

वार्त्तिककारस्य महाभाष्यप्रोक्तं 'संघातार्थवत्वाच्चे'ति वार्त्तिकमनुसरन्नुपस्थापयतिः—

"भौतिकदृष्टयाऽपि पदनाम्नाऽभिहितं रूपं वर्णानां संघातभूतमेव, नान्यत्। तान् विना तस्य सत्ताया असंभवात्। एवमेव वाक्यविषयेऽपि। पदानां संघातः, पदोपस्थितिर्वा वाक्ये हि दृश्यते। तेषामुपस्थितिं विना तस्य सत्ताया असंभवात्। अथवा कथयिष्यति —"वाक्यार्थस्य तदैकोऽपि वर्णः प्रत्यायकः क्वचित्।" अतो वर्णानामपि वाक्यत्वसंभवः। अथवा वर्णेभ्यो निर्मितानि पदानि ह्येव वाक्ये प्रयुज्यन्ते। तत एव सिद्धयति यद् वर्णव्यतिरेकेण विनापि वाक्यस्याऽसंभवः।"

The very existence of the 'padas' depends on the phonemes. In one way, a 'pada' is nothing but a mere collection of phonemes. Similar is the case of a Sentence, which is nothing but a mere collection of phonemes or padas (*i e.* words). If the formation of a 'pada' depends on the phonemes, then the formation of the sentence also depends on the phonemes and the padas.

"यदि वर्णों की स्थायी सत्ता न मानें तो पद की सत्ता भी स्वीकृत नहीं होती। और यदि पद और वर्ण की सत्ता बुद्धिनित्य रूप मे न मानें, तब 'वाक्य' का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए वर्ण और पदों का बुद्धि में नित्यत्व इसलिए मानना ज़रूरी है, ताकि 'वाक्य' को एक इकाई मानकर उसके अर्थैक्य पर विचार किया जा सके।"

टिप्पणी :—महाभाष्योक्त वार्तिक 'संघातार्थवत्वाच्च' तथा उससे सम्बद्ध विवाद का सैद्धान्तिक आधार यहां लिया गया है। वर्ण और पद की भौतिक सत्ता स्वीकार करने का यह अर्थ नहीं कि उन्हे सार्थक इकाई भी मान लिया गया है। त्रिपदी टीका में भर्तृहरि कहते हैं—"एवं समुदायो द्रव्यं ब्रवीति। जात्यादींस्त्ववयवान् वर्णाः। अथवा यद्वत्पदानि सापेक्षाणि तमेवार्थमाहुरेवं तमेवार्थं वर्णा अपि परस्परापेक्षया ब्रूयुरिति।" इत्यादि।

पदे न वर्णा विद्यन्ते, वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।।७३।।

वाक्यपदवर्णवर्णभागानां परस्परापेक्षित्वं सूचयन् वाक्यस्यैकत्वमखण्डत्वं च प्राह :—

"बुद्धौ वर्णानां पदानाञ्चाकृतिनित्यत्वे प्रयोगबाहुल्येऽपि च तेषां न तथा प्रयोगः प्रयोजनं वा। आत्माभिव्यक्तेः प्रयोजनत्वात् तेषां न कथंचिदपि प्रत्यायनपरं प्रयोजनम्। आत्माभिव्यक्तिश्च वक्तुरिच्छायाः प्रकाशनव्यापार एव। सा च वाक्यभूतेनैकत्वेनैव व्यज्यते, नान्यथा। अतो वाक्यात्मतया वाक्प्रयोजनस्यैकत्वे स्वीकृते पदानां वर्णानां वा व्यक्तिशः प्रयोजनस्वीकरणमहेतुकमनर्थकं चैव सिद्ध्यति। अभिधेयस्य च निष्पत्तौ वर्णार्थानां पदार्थानां वा न कथंचिदप्युपयोगः संभ-

वति। तदेव सत्यं पदत्वे पदविषये वा वर्णानामपि कृते । तच्चैव सत्यं वर्णेषु वर्णभागानामुपस्थितिस्वीकृतिविषयेऽपि। कमप्येकमेकत्वेन स्वीकृत्य कृते कार्ये नैवाऽन्येषां सत्तया किमपि प्रयोजनम् ।"

Yet, it is a fact that phonemes have no place of pride, at least not as a recognisable unit, in the making up of a pada. The same is true about the Allaphones or other phonemic parts, being found in a *'phoneme'*. Those have no value, even if found to be present, as far as a 'phoneme' is concerned. Merely the presence of these parts does not debar us from taking a 'pada' and a 'phoneme' as a grammatical or phonetic unit, respectively.

And if it is so, how a sentence may be supposed to be composed of different 'padas', while semantically it is indivisible and invariable Unit of Speech. Even if separately recognised, *padas* have no purpose to serve, while standing alone; their formation depending itself on the formation of a *sentence.* Their existence becomes meaningless, without it.

"जब हम पद पर विचार करते हैं, तब वर्णों की पृथक्-सत्ता स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं रहता । जब हम वर्ण पर विचार करते हैं, तब उसमें घटक रूप से विद्यमान वर्णभागों की सत्ता की स्वीकृति का कोई प्रश्न नहीं उठता । इसी प्रकार जब हम वाक् की इकाईभूत **वाक्य** पर विचार करते हैं, तब उसे बनाते दीखने वाले 'पद' अर्थहीन या प्रयोजनहीन हो उठते हैं । क्योंकि वहां उद्देश्य वक्ता की इच्छा की आत्माभिव्यक्ति होता है । पद उन्हें व्यक्त करने के माध्यमभूत होते हैं । [वाक्यार्थ केवल उनके आकार या अर्थों तक ही सीमित नहीं होता । इसलिए वाक्य में **पद**, पदों में **वर्ण** और वर्णों में **वर्णभाग** अपने-अपने अस्तित्व को रखकर भी प्रयोजनहीन अथवा महत्त्वहीन हो उठते हैं ।"

टिप्पणी :—यहां भर्तृहरि की त्रिपदी टीका में निम्न भाष्योक्तियों और वार्त्तिकों का विवरण महत्त्वपूर्ण और अवधेय हो उठता है :—"य एते वर्णेषु वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतयः ।'···इह हि समुदाया अप्युपदिश्यन्ते, अवयवा अपि । आभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवास्तद्यथा-वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलतीति ।··· तथा 'स्फोटमात्रं प्रतिनिर्दिश्यते ।" इत्यादि ।

२—यहां 'वर्णविभाग' की समस्या के लिए देखें लेखक का तत्सम्बद्ध विशेष लेख 'वर्णों का विभाजन ।'

भिन्नं दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते ।
तत्र यन्मुख्यमेकेषां तत्रान्येषां विपर्ययः ॥७४॥

वर्णपदवाक्यानधिकृत्य कृतान् विविधान् वादान् खण्डसत्यरूपेणैव स्वीकरोति, नान्यथा—

"वर्णभागं वर्णं पदं वाक्यं वाऽधिकृत्य तेषामर्थवत्तया प्रयोजनवत्तया च ये खलु विविधा वादाः प्रचलितास्तेषां कारणमिदमेव यद् विचारकाणां दृष्टिस्तत्र तत्र भिन्नमेव प्रयोजनमाश्रित्य प्रसृता । अनेनैव कारणेन यदा तेषु कोऽपि कमप्येकं सार्थकत्वेन स्वीकरोति, तदा तस्यमतेऽन्येषां प्रयोजनमर्थहीनं जायते । यथा वर्णवादिनां मते वर्णभागपदवाक्यानामस्तित्वं सार्थकत्वं वा निष्प्रयोजनम् । तदेवास्ति सत्यमन्येषां विषयेऽपि । यस्मिन्नेव विचारप्रसंगे यो हि मुख्यः स एव स्वीक्रियते मुख्यत्वेन, नान्यः ।"

This consideration, of unity or multiplicity of a phoneme or a pada in different sentences or on different occasions, is based on different factors and needs. A different approach becomes necessary in a different context. But once a particular viewpoint is accepted, in a particular case, other viewpoints are naturally discarded from that consideration. Or, if a particular approach is adopted, then the other approaches become meaningless, in that case.

Thus a sentence, a pada, or a phoneme may be treated as a *unit* in different contexts, *i.e.*, in Linguistic, Grammatical, and Phonetic Contexts, respectively.

"वाक् की इकाई की दृष्टि से विचार के प्रसंग में वर्णभाग, वर्ण, पद, आदि की पृथक्-पृथक् चर्चा अलग-अलग कारण या आधार से की जाती है । इनमें से कोई विचारक जिस भी एक को विचार का आधार या मुख्य केन्द्र मान बैठता है, उसके लिए अन्य सबका विचार महत्त्वहीन हो उठता है । जिस प्रकार 'वाक्य' को वाग्व्यापार की इकाई स्वीकार करने के बाद अन्यों को वह महत्त्व नहीं दिया जा सकता, उसी प्रकार वर्ण, पद, आदि को व्यक्तिशः इकाई स्वीकार करने के बाद वाक्यादि अवशिष्ट अंगों को महत्त्व नहीं दिया जा सकता । इसीलिए इस

विषय में वर्णवादियों, पदवादियों या वाक्यवादियों के अनेक मत प्रचलित हो गए हैं।"

टिप्पणी—यहां द्वितीयकाण्ड में वर्णित विविध मतमतान्तरों की ओर इंगित देकर उनकी मान्यता का वास्तविक आधार बताया गया है।

स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः ।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते ॥७५॥

उच्चारणे ध्वनिकालमनुसृत्य ग्रहणे विषयस्याभिन्नकालत्वं स्थापयतिः—

"तथाभूतस्य शब्दस्योच्चारणकालपरिसमाप्तावेव ग्रहणं जायते। उच्चारणे व्याप्तो ध्वनिकालो ह्रस्वदीर्घप्लुतादिभेदेन भिद्यते। ग्रहणे तु तस्य न किंचिदपि प्रयोजनम्। ग्रहणं तु खलु ध्वनेः शब्दस्य वाक्यस्य वा स्फोटरूपेणैव तत्क्षणं समकालं च जायते। तत्र ह्रस्वदीर्घप्लुतादीनां मात्राभेदः कमप्यन्तरं नैवादधाति। अभिन्नकालत्वमेव स्फोटस्य शब्दस्य च ग्रहणे परमैकत्वं सूचयति। ग्रहणं तु तस्य युगपदेव जायते।

"कथं पुनः शब्दार्थस्य वाक्यार्थस्य वा विस्तारात्मको विचारो, यत्पर्याप्तकालपर्यन्तमपि ग्रहीतुर्मानसं न त्यजति। वृत्तिभेदमस्य कारणम्। वृत्तिः खल्वलौकिकोऽर्थविचारः। सूत्रवृत्तिमिव शब्दस्य वाक्यस्य वापि वृत्तिमेव तदाश्रितं विचारभेदहेतुमाहुः। ग्रहणकाले देशकालावस्थादिभेदेन वृत्तिरपि भिद्यते। अतएव क्षणेन गृहीतोऽपि स्फोटरूपोऽर्थो वृत्तौ विस्तारभेदेन भिद्यते।"

As the principal word-self is eternal, the effect of the time-factor is, in no way, seen in the reception or duration of Sphoṭa. But because the form of the object, and thereby of its reflection, *i.e.*, Sphoṭa, is perceived as indifferent and mixed up with the sounds, therefore the duration of the sounds is taken as the duration of the sphoṭa. And it is therefrom that the sphoṭa

is supposed to be of varying speed and length, as far as the time-factor is concerned.

But in reality, Sphoṭa is instantaneous and unchanging.

"शब्द या वाक्य के उच्चारण में जो काल लगता है, वह वर्णध्वनि के ह्रस्व-दीर्घादि भेद के कारण होता है। उसे **ध्वनिकाल** कहा जाता है। पर शब्द या वाक्य का ग्रहण **स्फोट** के रूप में होता है। वह स्फोट एक ही क्षण में, विस्फोट जैसे रूप में, होता है। भले ही उसे उपलब्ध कराने वाला शब्द या वाक्य कितनी ही काल-मात्रा या देर में बोला गया हो। वक्ता का कथन समाप्त होने के क्षण में ही ग्रहीता को युगपत् प्रतीति हो जाती है।

"पर इस युगपत् प्रतीति का अर्थ यह नहीं कि ग्रहण की प्रक्रिया इस स्फोट की उपलब्धि के साथ ही समाप्त हो जाती है। वास्तव में स्फोट रूप में ग्रहण के बाद विचार-विस्तार का काल आता है। उसी वाक्य की जो विविध अनुभूतियां ग्रहीता के मन में उठती हैं, उन्हें केवल शब्दाश्रित नहीं कहा जा सकता। अतः उन्हें 'अर्थ' न कह कर 'वृत्ति' कहा जाता है। सूत्र की वृत्ति की भांति इसमें शब्दों की सीमा से परे छिपे संभावना-लोक को ढूंढा जाता है। यह भेद मूलतः ग्रहणकाल में ग्रहीता की देशकालावस्थादि पर निर्भर करता है।

टिप्पणी:—महाभाष्य के 'स्फोटमात्रं प्रति निर्दिश्यते' की व्याख्या में भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं : **'अध्वनिकः स्फोट इत्युक्तं भवति।'** इसे ही इसी काण्ड में आगे चलकर भी स्पष्ट किया है।

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते॥७६॥

किमभिप्रेतं ध्वनिकालेनेति तद् विवृणोतिः—

"ह्रस्वदीर्घप्लुतादीनां कालमात्राभेदेन स्वभावो भिद्यते। तच्च भिन्नत्वं नित्यम्। तेषामुच्चारणे व्याप्तां कालमात्रामेवानुसृत्य शब्दस्याकृतेर्लघुत्वं दीर्घत्वं वा विनिश्चीयते। अतस्तस्योच्चारणे हेतुभूतायाः प्राकृतध्वनेः काल एव 'शब्दस्यायं काल' इत्यनेन रूपेण गृह्यते।"

The *short*, the *long* and the *protracted* forms of the sounds

are different in nature. That difference is of permanent nature. The word being eternal, and its primary sounds remaining unchanged, the duration of the primary sounds, involved in its pronouncement, is supposed to be the duration of the word itself.

But 'word' as such has no problem of time-factor being involved.

"ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेद ध्वनियों के हैं। अतः उन पर आश्रित शब्द के उच्चारण में जो कम या अधिक काल लगता है, उसे 'ध्वनिकाल' के रूप में कहा जाता है। यही शब्द-काल है। इस भेदयुक्त ध्वनि को 'प्राकृत ध्वनि' भी कहा जाता है।"

वर्णस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥७६ (क)॥

अयं श्लोको बहुषु प्रतिष्वधिक पठ्यते। अत्र प्राकृतवैकृतध्वनिभेदौ प्रसंगात् व्याख्यायेते :—

"वर्णस्योच्चारणे उच्चरितस्य ग्रहणे च योऽसौ ध्वनि हेतुभूतो गृह्यते, स प्राकृतध्वनिनाम्ना कथ्यते। परं प्राकृतध्वनिव्यतिरिक्तं यदपि ग्रहणे हेतुभूतं तद् वैकृतध्वनिनाम्ना ज्ञायते। कुत एतत् ? यतो हि तस्मिन् वृत्तीनां भेदाः प्रतायन्ते, न खलु वर्णानामिन्द्रियोद्भूता ध्वनयः।"

The *primary* or natural sound is the cause of the perception of the word. The *secondary* or articulated sounds cause the difference in that perception. The secondary sounds are supposed to come into existence, only after the perception of the Sphoṭa.

"उच्चरित वर्णमात्र के ग्रहण में हेतु ध्वनि **प्राकृतध्वनि** के नाम से कहा जाता है, जबकि इससे भिन्न स्थिति में उसके ग्रहण, या उसके वृत्तिभेद के ग्रहण, में हेतुभूत तत्त्व को **वैकृत ध्वनि** कहा जाता है। यह ध्वनि प्राकृतध्वनि से भिन्न होती है।"

टिप्पणी :—हमने इसे इसलिए प्रामाणिक माना कि इससे पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्त्ती कारिकाओं में क्रमश: प्राकृत और वैकृत ध्वनि की चर्चा आई है, जबकि उसकी परिभाषा इसी एक कारिका में है । इस कारिका को कुछ विद्वानों ने व्याडि की रचित स्वीकार किया है ।

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ।। ७७ ।।

वैकृतध्वनेः वास्तवं स्वरूपं विवृणोति :—

"उच्चारणसमकालमेव स्फोटरूपेण शब्दस्य वाक्यस्य वा ग्रहणं भवति । परं दृश्यते हि ततोऽप्यधिकं किंचिद्, यत् तदनन्तरमपि वृत्तिभेदमर्थविस्तारभेदं वा जनयति । सत्यमेवास्मिन् हेतुः प्राकृतो ध्वनिर्भवितुं कथमपि नार्हति । अतो विस्तरणशीला विस्तारहेतवश्चैते ध्वनयो वैकृता एव, ये समूह्य वृत्तिभेदं जनयन्ति । नैतेषां सम्बन्धो यत्किंचिदपि उच्चारणकालोत्पादिना ध्वनिना सह । अर्थविस्तारं वृत्तिभेदं वा कृत्वाप्येते स्फोटस्य महत्त्वं यथाकथंचिदपि न आक्रमन्ते । स्फोटेन च तेषामभिन्नत्वमेव सिद्धयति, तस्यैव विवरकत्वात् ।"

After the manifestation of the word by way of Sphoṭa, these secondary or reverberating sounds cause variations in the perception, they themselves being intimately related with the mind, and thus give a false impression of causing the variation in the Sphoṭa itself. But sphoṭa, being eternal itself, does not respond to these variations, and remains unchanged and undivided.

Note. It is our suggestion, after a careful study of Bhartṛhari's statements, that this Vaikṛta Dhvani may very well be taken in the sense of the 'power of suggestion', lying latently in the words.

"प्राकृत ध्वनि केवल वर्णोच्चारण में समर्थ होती है । शब्द या वाक्य के रूप में अभिधेय के पूरा होने पर उनका ग्रहण स्फोट के रूप में होता है । स्फोट सक्षण होता है । परन्तु उसकी उपलब्धि होते ही वक्तव्य या अभिधेय की

स्पष्टता वृत्तिभेद के रूप में पर्याप्त देर तक भी अनुभूत होती रहती है। तरंगों के रूप में प्रवाहित होने वाले इस विस्तार को जन्म देने का हेतु **वैकृत ध्वनि** है, जो स्थितिभेद और वृत्तिभेद का निमित्त बनती है।"

टिप्पणी :—'ध्वनि' के इस रूप के विवेचन के लिए अधिक देखें, इसी काण्ड के श्लोक संख्या ९३, ९४, १०२, १०३, १०६। इन सभी में आलंकारिकों की 'ध्वनि' के सदृश ही **वैकृत ध्वनि** की स्थिति मानी गई है।

इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम् ॥ ७८ ॥

अधुना ध्वनिमाश्रित्याऽभिव्यक्तिवादिनां त्रयो विवादाः वर्ण्यन्ते— "एकेषां मते ध्वनिभिरिन्द्रियाणामेवोच्चारणात्मको श्रवणात्मको वा संस्कारो जायते। अन्येषां मते शब्दे ह्येव काचिन्नवीनताऽऽधीयते। प्रथममते नवीनतेयं 'रूपात्मिका', द्वितीये च 'अर्थात्मिका'। परमस्ति तृतीयमपि मतं, यस्मिन्नुभयात्मको व्यापारो ध्वनेः स्वीक्रियते—रूपात्मकसंस्कारमयोऽर्थात्मकसंस्कारमयश्च। वक्रोक्तिरूपेण काकुध्वन्यादिकं मन्यमानैरालंकारिकैस्तेषु त्रिषु प्रथममेव मतं सम्पुष्टम्। वस्तुरसालंकारादिध्वनिभेदान् गणयद्भिः काव्यशास्त्रिभिः शब्दे ह्येव कश्चन नव्यश्चमत्कारोपस्थितिः स्वीक्रियते। अपरे पुनः शब्दार्थावुभावप्याश्रित्य ध्वनिप्रभावमुभयात्मकं मन्यन्ते। प्रयोजनं च सर्वेषामिदमेव—यत् ते ध्वनिद्वारा शब्दस्य द्योतनव्यापारं विस्तृतं भवन्तं मन्यन्ते।"

The Expressionists differ on the effect of these sounds, having three different *schools*. According to the *first*, its major effect is mechanical one. According to them, it affects the hearing mechanism, producing variations therein. According to the *second*, it affects the nature of the word itself, producing thereby a change in its 'meaning and suggestivity'. The *third* is a synthesis of these both, accepting variations in 'mechanical' as well as 'semantic' aspects of the word, and thereby giving a new dimension to its expressional capabilities.

"ध्वनि का आधार लेकर चलने वाले अभिव्यक्तिवादियों के तीन वाद या मत मुख्य हैं। एक के अनुसार काकु आदि में परिवर्तन के द्वारा जो अभिव्यंजना में अन्तर आता है, वह इन्द्रिय के संस्कार के द्वारा ही आता है। अतः उनके मत में ध्वनि केवल **इन्द्रिय** का ही संस्कार करती है। इसमें एक भावना ग्रहीता के इन्द्रियसंस्कार की भी ली जा सकती है। **द्वितीय** मत के अनुसार ध्वनियों के द्वारा शब्द में ही कुछ ऐसा संस्कार कर दिया जाता है कि उसका अर्थ ही पलटता सा नजर आता है। मानो वह शब्द ही नया बन गया हो। **तीसरा** मत इन दोनों मतों की खण्डात्मक सत्यता को स्वीकार करके बढ़ता है। उसके अनुसार ध्वनि में **वक्ता** का प्रयत्न और उसकी भावना का अन्तर भी समवेत है, जबकि **श्रोता** का ग्रहणव्यापार तो उससे प्रभावित होता ही है। परन्तु प्रयोजनात्मक दृष्टि से तीनों मत इस रूप में एक है कि उनका लक्ष्य स्फोट-ग्रहण के बाद होने वाले शब्द के भावनात्मक विस्तार को लक्षित और स्वीकृत करना है।"

टिप्पणी—'नाद' और 'ध्वनि' में अन्तर को अधिक समझने के लिए देखें—'भाषा० वाक्य०', पृ० ५०, अनुच्छेद ५०।

इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिभिः।
विषयस्य तु संस्कारस्तद्गन्धप्रतिपत्तये ॥ ७६ ॥

इन्द्रियशब्दयोः संस्कारमेव विवृणोति :—

"यथा ध्यानसमाधानेनाञ्जनादिभिर्वा बुद्धिचक्षुरादीन्द्रियाणामेव संस्कारो विधीयते, तानि च ज्योतिर्ग्रहणे समर्थानि भवन्ति, तथैव विषयस्यापि संस्कार आवश्यकोऽस्ति। संस्कारहेतोरेव कोऽपि विषयः स्वगन्धप्रतिपादनं चारुतयोत्कृष्टतया च विदधाति। अतः सिद्धं यदुभयात्मक एव व्यापारो ध्वनिनाऽभीष्टः। ग्रहणसामर्थ्योत्कर्षरूपो य इन्द्रिये संभवति। प्रतिपादनचमत्काररूपश्च यो विषयमात्रे हि व्यवतिष्ठते।"

By concentrating, or by applying an eye-medicine, we increase the capability of our visual organ (*i.e.*, eye) only. But by perfecting or refining the object, we make it more easily perceptible, so that we may experience fully the smell in it.

"ध्वनिजन्य इन्द्रियसंस्कार का वही प्रभाव होता है, यथा समाधान और आँजने आदि के द्वारा चक्षु या बुद्धि आदि इन्द्रिय की सामर्थ्य, ग्रहण की दृष्टि से, तीव्र हो जाती है। इसी प्रकार उसके द्वारा होने वाले शब्दसंस्कार या विषयगत संस्कार का यह अर्थ होता है कि ध्वनि द्वारा हम विषय में प्रतिपादन की सामर्थ्य को अधिक उत्कृष्ट और व्यापक कर देते हैं। इस प्रकार ध्वनि का प्रभाव उभयात्मक स्वीकार करना ही ठीक है। क्योंकि प्रतिपादन और ग्रहण दोनों की सामर्थ्य में अन्तर या विस्तार होता है।"

टिप्पणी :—अगले श्लोकों में इसे और स्पष्ट किया गया है।

चक्षुषः प्राप्यकारित्वे तेजसा तु द्वयोरपि।
विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कारः सः क्रमो ध्वनेः॥ ८०॥

कथमुभयोः संस्कार इष्ट इत्युपस्थापयति :—

"चक्षुरिन्द्रियेण यः कश्चिदपि पदार्थो गृह्यते। चक्षुश्च तस्य प्राप्त्यां साधनभूतमेव स्वीक्रियते। परं तेनोद्भूतं ग्रहणमपि तदैव सम्पन्नं भवति, यदा तेजसा चक्षुरिन्द्रियस्य दृश्यमानविषयस्य च दर्शनप्रकाशनात्मकौ व्यापारौ प्रकृष्टतरौ संस्कृतौ च भवतः। इदमत्राभिप्रेतं यत् तेजसा खलु द्वयोरेव सामर्थ्यवर्धनं भवति, इन्द्रियस्य द्रव्यस्य च। तेजसोऽपि द्विविधः प्रभावोऽत्र वर्णितस्तस्य स्थितिर्वा द्विविधा वर्णिता : चक्षुषि दृष्ट्यात्मना स्थितम्, विषये द्रव्ये वा स्वात्मप्रकाशनरूपेण स्थितम्। दर्शनक्रियाया इदमुभयात्मकमस्तित्वमाधुनिकानां वैज्ञानिकानां कृतेऽपि विचारार्हम्।

"एवमेव ध्वनेरपि द्विविधः प्रभावः—इन्द्रियात्मको विषयात्मकश्च। उभयोरपि नवशक्त्याधानं तेन क्रियते। स एव तेन कृत्याः संस्कारः।"

When we say that in the process of expression the effect of sounds (or Dhvanis) is seen simultaneously on the Ear and the Word alike, we are taking the clue from the twofold effect of the Ligtht. Tejas or light-element enhances the recep-

tive capability of the eyes on the one hand, while on the other it glorifies the object as well, making it more receptible. And, it is all done simultaneously.

"चक्षु द्वारा ग्रहण की प्रक्रिया में तेजस् का प्रभाव उभयात्मक देखा जाता है। एक ओर उसके द्वारा इन्द्रिय (चक्षु) की शक्ति बढ़ती है, अर्थात् वह अधिक अच्छी तरह देखने में समर्थ होती है; और दूसरी ओर उसके द्वारा पदार्थ की स्वात्मप्रकाशन की सामर्थ्य में अन्तर आता है। इस प्रकार 'तेजस्' की उपस्थिति और उसका संस्कार इन्द्रिय और द्रव्य दोनों में देखा जाता है।

"यही बात 'ध्वनि' के प्रभाव के विषय में भी संगत बैठती है। ध्वनि का प्रभाव वक्ता और श्रोता की उच्चारण और ग्रहण में रत इन्द्रियों के संस्कार के रूप में भी होता है, एवं स्वयं विषय की ग्राह्यशक्ति में भी परिवर्तन या परिशोधन होता देखा जाता है।"

टिप्पणी :—उभयात्मक प्रकाशन व्यापार का यह सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यधिक आधुनिक प्रतीत होता है।

स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते ।
कैश्चिद् ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रो ऽन्यैः प्रकल्पितः ॥८१॥

ध्वनेर्ग्रहणविषये सिद्धान्तमुपस्थाप्य मतभेदमपि प्रदर्शयति—

"ध्वनेर्ग्रहणमविभागेन स्फोटरूपेणैव संभवतीत्युपस्थापना। अविभक्त एव स्फोटः। तेन गृहीता ध्वनिरप्यविभक्ततयैव गृह्यते, ग्रहणानन्तरं तत्र वर्णपदाद्यवच्छिन्नायाः प्रतीतेरसंभवात्। उच्चारिता या ध्वनिर्गकारौकारविसर्गादिरूपेण विभक्तोवावभाति, ग्रहणे तस्याइतादृूप्यं नैत्रावतिष्ठते; बुद्धौ तस्य एकत्वाधानात्।

"अविभक्तोऽययं ध्वनिः कैश्चन विद्वांसैः स्फोटादभिन्नतया पृथक्त्वेनाऽगृह्यमाणो ऽननुभूयमानो वा स्वीक्रियते। अन्ये पुनरेनं स्फोटात्पृथक्तया स्थितं मन्यन्ते।"

According to some, Dhvani (sound) is cognised as one with the Sphota. Others think that Dhvani is not per-

cieved at all. While some others think that it is perceived as a separate entity.

Thus, there are three distinct theories in this regard. Or, we can very well say that here Bhartṛhari explains the reality at first, and then recounts two differing theories, at variance with the original.

"ध्वनि का ग्रहण स्फोट से अविभक्त रूप में रहकर ही होता है। इस पर भी कुछ विद्वान् ध्वनि का न तो अस्तित्व पृथक् से स्वीकार करते हैं, ना ही वे उसे पृथक् से अनुभूति का विषय मानते हैं। किन्तु कुछ अन्य विद्वान् ध्वनि की सत्ता स्फोट से पृथक् स्वीकार करते हैं, भले ही उनका ग्रहण स्फोट के ग्रहण से अविभक्त होकर ही रहता हो।"

टिप्पणी :—इस कारिका में तीन मतों की उपस्थिति न मानकर, एक सत्य के दो मतभेदों का ही वर्णन किया गया है। इसे यूँ कहा जा सकता है:—

ध्वनिग्रहण स्फोट से अविभक्त

ध्वनि पृथक् से असंवेद्य | पृथक् से संवेद्य (स्वतन्त्र)

अर्थात्, एक मत के अनुसार ग्रहण ध्वनि का न होकर स्फोट का होता है; ध्वनि उसी में अन्तर्गृहीत हो जाती है। दूसरे के अनुसार स्फोट से अपृथक् रहकर भी ध्वनि ग्रहण काल में स्पष्टतः अनुभूत की जा सकती है। अर्थात्, उस दशा में हम ध्वनि भी सुनते हैं, पर साथ ही स्फोट की उपलब्धि भी हमें होती है।

यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति ।
आवृत्त्या, न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते ॥८२॥

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥८३॥

"यथा मन्त्रसमूहः श्लोको वा ग्रन्थस्य श्लोकस्य वा पुनः पुनरावृत्तौ स्मृतिपथमुपयाति, व्याख्या वा तस्य स्वत एव ज्ञायते, तथैव पुनः पुनः श्रूयमाण उच्चार्यमाणो वा शब्दः बुद्धौ स्वरूपेणाऽवधार्यते। पृथक्शः

आवृत्त्या यथा कश्चिदेकः श्लोकः ग्रन्थस्यार्थं, तदङ्गतया स्वार्थंवा नैव प्रकाशयितुं समर्थो भवति, तथैव एकवारमात्रमेव एकैकशो वा पठनेन श्रुत्या वा शब्दे स्वरूपं नैवाऽवधार्यते। ग्रन्थे ऽनुवाके वा पुनः पुनः पठिते तस्मिन्नेकत्वबुद्धिप्रतिष्ठा जायते। तदा च कस्यापि श्लोकस्य तदङ्गतयाऽर्थो विज्ञायते। पृथक्त्वे च तस्य तथाभूतो ऽप्रसंगोत्पादितो ऽर्थो नैव ज्ञायते। एवमेव तत्तत्प्रसंगे प्रयुज्यमानस्य शब्दस्याऽव्याख्येयैः ग्रहणगुणेन च संयुक्तैः प्रत्ययैः पूर्वोपचितबुद्धिभिर्वा तस्मिन् स्वरूपात्मिका प्रत्यभिज्ञा ऽवधार्यते। स च शब्दो उच्चारितैरनुस्यूतैरनुभूतैश्च ध्वनिभिरेव प्रकाशतामुपयाति। पुनः पुनः श्रूयमाणा ध्वनयस्तस्य स्वरूपं बुद्धौ स्थिरीकुर्वन्ति। अर्थभावना च तस्य तत्तत्प्रसंगे प्रयुज्यमानतया जातैः कैश्चित्प्रत्यायनैः संकेतैः स्थिरीभवति। अन्यथा प्रसंगेनावृत्त्या च हीनः शब्दो न कञ्चनाप्यर्थं वहति।"

Just as a Vedic passage (anuvāka) or a verse becomes palatable or is well fixed in the reader's mind only after frequent repetitions, and as it is not fully grasped or crammed in the very first or in each individual repetition.

In the same way, the real form of the Word is fixed in our mind, when that is pronounced in the form of different phonemes or sounds. But this perception or fixation of the word becomes possible only because we are already having some definite cognition, based on certain unaccountable or unexplainable, but still favourable, signs.

Even when the real form of the whole word is manifested, as long as it has no definite cognition, it is as good as unperceived.

"यथा ग्रन्थ-प्रसंग में या पृथक्शः पुनः पुनः पढ़ने से कोई भी श्लोक या अनुच्छेद ग्रहीता के लिए ग्रहण-योग्य हो जाता है, किन्तु अकेला और प्रसंगव्यतिरिक्त पढ़ने पर वह ग्रन्थसंदर्भ से संयुक्त भावना की प्रतीति नहीं देता, उसी प्रकार कोई शब्द भी सप्रसंग पुनः पुनः पढ़े जाने पर ग्रहणक्रिया में सहायक किन्ही अव्याख्येय चिन्हों या प्रतीतियों के द्वारा अपने स्वरूप को वक्ता और श्रोता की बुद्धि में स्थिरकर लेता है। अर्थात् उन-उन प्रतीतियों के रहते उसका स्वरूप अविकल ही रहता है। ध्वनियां उसके उसी स्वरूप को बाह्य रूप में अभिव्यक्त करती हैं। "अमुक

ध्वनियों के द्वारा उच्चारित शब्द अमुक भावना को व्यक्त करता है", यह बात भी पुनः पुनरावृत्ति के ही कारण ज्ञात होती है।"

टिप्पणी :—पुनः पुनः आवृत्ति के दो परिणाम बताए गए हैं:—
—ध्वनिरूप शब्द का स्वरूप-स्थिरण, और
—प्रसंगमय आवृत्ति से उसका अर्थ से सम्बन्धस्थिरण।

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥८४॥

तदेव विवृणोति—"उच्चारणव्यापारे यो ध्वनिरिति कथ्यते, स एव ग्रहणव्यापारे नादनाम्नाऽभिधीयते। उच्चारणे प्रथमध्वनेरारभ्यान्त्यध्वनिपर्यन्तं यदपि शब्दरूपेणोच्चार्यते, तदेव समकालमेवनादैर्गृह्यते। नादस्योपस्थितिः श्रवणक्रियायां प्रधानाङ्गतया स्वीक्रियते। यतो हि तैर्विनोच्चारितानां ध्वनीनां स्वरूपेण ग्रहणमेव न संभवति। ग्रहणमवधारणं चेदं शब्दस्य बुद्धावेव भवति।

"कथंभूता सा बुद्धिरिति विशेषयन् प्राह—'आहितबीजायाम्'। उक्तमेव यदावृत्तिपौनःपुन्येन शब्दस्य स्वरूपबीजं बुद्धौ स्थिरत्वेनाहितो भवति। आहितबीजा चेयं बुद्धिस्तस्यैव शब्दस्य पुनःपुनरुद्भूतमुच्चारणं श्रावं श्रावं तच्छब्दविशेषविषये आवृत्तपरिपाका जायते। तथाभूतायामावृत्तपरिपाकायामाहितबीजायां च बुद्धौ स एव शब्दोऽन्त्यध्वनिसमकालमेव गृह्यमाणेन नादेन पुनर्जागृत इवाऽवधार्यते ज्ञायते च।"

The sounds, along with the final sound produced, manifest the word in its real form. This manifestation happens in our mind. It is possible, only because we had a seeding of it already in our mind, which has been nursed and cultured by every repetition.

Here we must differentiate in between Nāda and Dhvani. While Dhvani stands for the sound produced by the speaker, the Nāda represents sounds received by the listener. Thus, these

may be taken as two distinct technical terms, denoting two different situations and roles of the same 'sound'.

"पहले से ही जिसमें उस शब्द-विशेष के भावनात्मक बीज विद्यमान हैं, तथा जो उस शब्द के पुनः पुनः उच्चारण और श्रवण से उससे सम्बद्ध परिपक्वता प्राप्त कर चुकी है, ऐसी बुद्धि में अन्तिम उच्चरित ध्वनि के साथ-साथ पूर्ण होने वाले नादात्मक ग्रहण के साथ ही वह उच्चरित शब्दविशेष फिर से स्वरूप में स्थित होकर समझा जाता है। अर्थात्, प्रत्येक उच्चारण के समय उसका स्वरूप-ग्रहण नए सिरे से नहीं होता, बल्कि वह शब्द बार-बार के उच्चारण और श्रवण के कारण वक्ता और श्रोता की बुद्धि में पहले ही अपना स्वरूप स्थिर कर चुका होता है। अब तो फिर से सुनाई देने पर अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के समकाल ही उसका नादात्मक ग्रहण पूरा होने पर उसकी भावना और स्वरूप फिर से स्पष्ट हो जाते हैं।"

टिप्पणी :—ध्वनि और नाद एक ही तत्त्व के उच्चारणात्मक और ग्रहणात्मक दो पार्श्व हैं।

असतश्चान्तराले यान् शब्दानस्तीति मन्यते ।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः ॥८३॥

स्फोटोद्भूते ध्वन्यात्मके व्यापारे प्रोच्चारितपदार्थातिरिक्तं यत्किंचिदपि ज्ञायते, तत्किमनुच्चारितानां केषांचन शब्दानामभिप्रेतमथवा अदृष्टसत्तया तत्तत्र स्थितमिति विवेच्यते—

"गतश्लोकेऽन्त्यध्वनेरयमप्यर्थो भवितुमर्हति 'या खलु स्फोटान्ते जायते, तद्ग्रहीतं च वस्तु विस्तारयति—अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्यत्वात्'। आलंकारिकाणां सा ध्वनिर्यानर्थानभिव्यनक्ति ते खलु कानिचिच्छब्दार्थानन्तर्हित्य स्थिता इव प्रतीयन्ते। एतेनैव यदि कश्चिदनुमेयाद् यत्सन्ति केचनान्तर्हिताः शब्दास्तत्र शरीररहितत्वेन स्थिताः, स भ्रमोपजीवी स्वकीयामशक्तिं नैव जानाति। तेषां प्रतीतिर्ग्रहणोपायत्वेनैव जायते। अन्यथा वाक्यार्थग्रहणे तु अन्तराले स्थितानां शरीरिणां पदानां पदार्थानां चापि सत्ता नैव स्वीकर्त्तव्या स्फोटवादिभिः। कथं पुनस्तेषां पदानां पदार्थानां वा, ये शरीरतयाऽपि तत्र नैव विद्यन्ते।"

अनेन वाक्यार्थस्यैकत्वमखण्डत्वं च सूचितं, पदानां च सापेक्षिकमेव सत्तास्वीकरणम् । अनेनैव वर्णादीनामपि पृथगस्तित्वस्वीकरणं सहेतुकं निरस्तम् ।

उपायमधिकृत्य हरिरन्यत्र कथयति—'उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते ।'

When one believes those non-existant words or padas as existing ones, which appear to be coming in the midst of the pronounced sentence, it is due to the incapability of the receiver or perceiver, who cannot see a thing as a 'whole'. The 'parts' are not real ones ; because there they exist only due to that 'whole' and not because of their own standing. Thus they exist there only as a '*means*', and not as an '*end*'.

According to Bhartṛhari, a 'means' is that which becomes useless after the aim is achieved. And, this perception of the words becomes meaningless, when the 'meaning of the statement as a whole' becomes clear.

The same is true about the phonemes in a word, or the phoneme-parts in a phoneme.

"वाक्यार्थ एक और अविच्छेद्य है, इस सत्य को स्वीकार करने के बाद तथाकथित वाक्यशरीर के अन्तर्गत पदों और पदार्थों की सत्ता मानना ही भ्रामक हो जाता है। यही बात वर्णध्वनियों की सत्ता के सम्बन्ध में भी सत्य है। आलंकारिकों की ध्वनि के द्वारा प्रतीयमान अर्थ में जिन अविद्यमान शब्दों या शब्दार्थों की अतिरिक्त कल्पना हम कर बैठते हैं, वह प्रतिपत्ता या ग्रहीता की अपनी अशक्ति का प्रतीक है; क्योंकि उन तथाकथित पदों या पदार्थों की सत्ता केवल समझने-समझाने के उद्देश्य से ही स्वीकार की जाती है। उनका वास्तविक अस्तित्व या महत्त्व कुछ भी नहीं होता।"

टिप्पणी :—इससे वाक्यार्थ की अखण्डता और पदों की पराश्रित सत्ता का आभास मिलता ही है। ग्रहण में 'उपाय' भर्तृहरि ने साभिप्राय कहा है। उनकी दृष्टि में 'उपाय' वह है जिसे सहायतार्थ प्रयोग तो किया जाता है, किन्तु प्रयोजन पूरा होते ही जिसे त्याग भी दिया जाता है।

भेदानुकारो ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः ।
क्रमोपसृष्टरूपा वाग् ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम् ॥८६॥

वाचो ज्ञानस्य च भेदोपग्रहः स्वाभाविक इति विवेचयति—

"यथा एकमखण्डमपि ज्ञानं ज्ञेयविषयानुषङ्गत्वात् तत्तद्भेदसंयुक्तं विभक्तमिव वा दृश्यते, तथैव अक्रमाऽपि वाग् नादस्फोटादिभेदाद् वर्णपदादिभेदाद् वा क्रमवतीव लक्ष्यते । अतः खण्डात्मकत्वावभासेन ज्ञानस्य भेदानुबन्धित्वं वाचश्च विभक्तरूपवत्त्वं च स्वाभाविकं निश्चितं च ।"

The seeming divisibility of the one and indivisible **Knowledge** and the apparent intradivisibility of **Speech** are the realities to be reckoned with, though illusory also at the same time. It is so, because the indivisible knowledge is dependent on its subject, or 'the known', which *varies* in each case, and because the indivisible Speech is dependent, for its own expression, on sound production, which involves 'order'. Naturally, as a result, the knowledge and the speech take their colour from their basic factors, *i.e.* the subject and the orderly production, respectively.

Hence their apparent *divisibility*.

"**ज्ञान** अपने स्वरूप में अखण्ड होकर भी ज्ञेय या विषय पर आश्रित होने के कारण भेदोपभेद में विभक्त सा दिखाई देता है । **वाक्** भी अक्रम और अखण्ड है । किन्तु, प्रत्यक्ष उपलब्धि में वह भी नादस्फोटादि के कारण, या वर्णपदादिभेद के कारण, क्रमवती या खण्डवती सी दिखाई देती है । इस प्रकार खण्डात्मक अवभास के असत्य होने पर भी व्यवहार में इन भेदों का अस्तित्व स्थिर और स्वाभाविक सा प्रतीत होता है ।"

टिप्पणी :—'ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम्' में ज्ञेय की विविधता के कारण ज्ञान की प्रत्यक्ष अनेकविधता का संकेत है ।

व्याडि का यह वचन अवधेय है :

ज्ञेयेन विना न ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते ।
नालब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥

यथाद्यसंख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये ।
संख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः ॥८७॥

ग्रहणोपायत्वं विवृणोति —"यथा शतमित्युक्ते नैवास्ति कार्यं शतपूर्वया कयापि संख्यया, तथापि तासां परिज्ञानेन शतस्यापि ग्रहणं सारल्येन संभवति, तथैव वाक्यार्थवाचके वाक्यरूपे प्रोच्चरितेऽपि नैवास्ति कार्यमन्यै रन्तर्वर्तिभिर्वा पदैः पदार्थैश्च । एवं स्थितेऽपि तेषां परिकल्पनया वाक्यार्थग्रहणे सौकर्यं भवत्येव ।"

Just as the cognition of the earlier numbers is the means to understand the real number in question ; though their cognition is meaningless otherwise and though they differ from one another. In the same way, the understanding of the interlying words or sounds is the means to understand the sentence, or the meaning thereof, though their cognition may howsoever be illusory.

"जिस प्रकार 'सौ' कहने पर उससे पूर्ववर्त्ती संख्याओं का प्रयोजन नहीं रहता, पर फिर भी उनके परिज्ञान से 'सौ' के जानने और समझने में सरलता होती है ; उसी प्रकार वाक्य और वाक्यार्थ के एक और अखण्ड होने के कारण उसे समझने के लिए उसमें खण्ड रूप में स्थित या उसके बाहर स्थित किन्हीं शब्दों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। फिर भी यह सत्य है कि इस प्रकार के शब्दों के अस्तित्व को स्वीकार करने या उनको मानने से वाक्यार्थ के ग्रहण का कार्य सरल हो जाता है। इसलिए असत्य होते हुए भी इस प्रकार की खण्ड कल्पना को स्वीकार करना ही पड़ता है।"

प्रत्येकं व्यञ्जका भिन्ना वर्णवाक्यपदेषु ये ।
तेषामत्यन्तभेदेऽपि प्रकीर्णा इव शक्तयः ॥८८॥

कथं पुनः वर्णवाक्यपदादीनां मिथः परस्परं वा भिन्नत्वं सिद्ध्यति—"अत्यन्तभिन्नानामपि वर्णवाक्यपदादीनां व्यञ्जका भिन्नाश्च शक्तयः प्रत्येकं पृथक्तया प्रकाशयन्त्योऽपि मिथः संकीर्णा इव दृश्यन्ते। अस्याऽयमर्थो यद् याभिः खलु शक्तिभिर्वाक्यपदवर्णानां मिथः परस्परं वा भिन्नत्वं ज्ञायते, याभिश्च हेतुभूताभिस्तेषां वाक्यपदवर्णादीनां परस्परमत्यन्तभेद उपलक्ष्यते, ताः परस्परं भिन्ना अपि शक्तयः विवे-

चनकाले व्यामिश्रा इव संकीर्णा इव वा दृश्यन्ते। 'प्रकीर्णा' इति पाठेऽपि 'व्यामिश्रा इत्येष एवार्थो ज्ञायते।"

Though the cognitory signs, manifesting the phonemes, words and sentences, are different in each case and are entirely different mutually as well, their manifesting powers appear to be confused due to their similarity in parts or in some special effects.

Hence the comprehension of parts in a phoneme, or phonemes in a word, and the words in a sentence which are indivisibly one otherwise.

"वर्ण, वाक्य और पद के रूप में भेद काल्पनिक और असत्य हैं। फिर भी उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता बताने वाली और उन्हें परस्पर और एक-दूसरे से भिन्न सिद्ध करने वाली जो शक्तियां मानी गई हैं, वे परस्पर नितान्त भिन्न होने पर भी उन तीनों में ही संकीर्ण होकर व्याप्त होती देखी गई हैं। अर्थात्, वाक्यादि के परस्पर नितान्त भिन्न मान लेने पर भी और उनकी व्यंजक शक्तियों को नितान्त भिन्न रूप में स्वीकार करने पर भी उनमें पारस्परिक समानता और एकता के तत्त्व इतने अधिक हैं कि वे परस्पर उलझते से प्रतीत होते हैं।"

यथैव दर्शनैः पूर्वैर्दूरात्संतमसेऽपि वा।
अन्यथाकृत्यविषयमन्यथैवाध्यवस्यति ॥८९॥
व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः।
भावावग्रहरूपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्तते ॥९०॥

अखण्डमेकं च रूपं कथं खण्डात्मकेन पथोपलब्धुं शक्य इति विवेचयति—"यथा सामान्या मनुष्याः प्रथमदृष्ट्यां वृक्षादीन् हस्त्यादि-रूपेण गृह्णन्ति, दूराद् हेतोः अन्धकारहेतोर्वा. तत्रैव स्थिताश्च क्रमशः सत्यां प्रतीतिमुपलभमाना यथावद् वस्तु पश्यन्ति।

"तथैव भागहीने क्रमहीने च वाक्येऽपि तस्याभिव्यक्तिवेलायां तस्यैवांशभूतैरवयवैरिव पदवर्णादिभिस्तस्यार्थस्याभिव्यंजनं क्रियते। इयं चाभिव्यक्तिरंशग्रहणरूपेण स्वीक्रियते, यतो हि बुद्धिः पूर्वं भागा-

वग्रहरूपेणैव कस्मिंश्चिदपि विषये प्रवेशं प्राप्नोति ।"

सत्योपलब्ध्यां सत्यामिमे भोगा असत्यरूपतया नावतिष्ठन्ते, यथा वृक्षत्वमुपलभ्य हस्त्यादिप्रतीतेस्तत्रासत्यता स्पष्टीभवत्येव। पूर्वमन्यथा-ग्रहणेनान्यदेव परिणामावगमनं रीतिरेव ज्ञानस्य । भागावग्रहरूपेयं प्राग्बुद्धिस्त्याज्यैव जायतेऽन्ते । अत एवोपायत्वेन व्याख्याता ।

As, when looking from a distance or in the darkness, people generally mistake a thing in the previous cognitions, before taking them finally in their real and established form.

In the same way, during the manifestation of a sentence the intervening causes of that manifestation, *i.e.* phoneme and word etc. give their own cognition, as though the 'whole' is divided into 'parts' and is, therefore, being taken partwise only.

But this is nothing but a '*way*' to attain the ultimate *goal*, and therefore has no importance left, once the goal is attained.

"दूरी या अन्धकार आदि के कारण जिस प्रकार पहले हम सर्प या हाथी आदि की प्रतीति लेकर बाद में उनके रज्जु और वृक्ष होने का सत्य प्राप्त करते हैं, यद्यपि आरम्भिक प्रतीति असत्य होने से त्याज्य ठहरती है, उसी प्रकार अखण्ड और अक्रम वाक्य का आरम्भिक ग्रहण भी खण्ड या अंशरूप वर्ण, पद, आदि के माध्यम से ही होता हुआ दिखाई देता है । यद्यपि उसकी भी अन्तिम और सत्य प्रतीति 'स्फोट' के रूप में क्रम और भाग से रहित होकर सक्षण और युगपत् ही होती है ।"

असत्य उपायों का सहारा लेकर सत्य की ओर बढ़ने या उसे पाने की यह परम्परा निराली है । पर, होता ऐसा ही है ।

यथानुपूर्वीनियमो विकारे क्षीरबीजयोः ।
तथैव प्रतिपत्तृणां नियतो बुद्धिषु क्रमः ॥६१॥

उदाहरणेन प्रतिपत्तृबुद्धौ वर्णपदादिक्रमेण वाक्यग्रहणं पुष्णाति—

"यथा क्षीरस्य दधिविकारे काश्चित् प्रगाढतादयो ऽवस्थाविशेषा मध्यवर्तिन्यो भवन्त्येव । यथा च बीजाद् वृक्षोत्पत्तौ पत्राङ्कुरादिक्रम-मुपपद्यत एव । स खलु आनुपूर्वीनियमो विद्यते पूर्वापरतया । तथैवैषाम-र्वाग्दर्शनानां प्रतिपत्तृणां वाक्यार्थग्रहणेन पूर्वं वाक्यस्वरूपग्रहणाद्या-

वश्यकमेव । तस्मिंश्च वाक्यार्थे नियतक्रमपरिणामभागाकारप्रत्यव-भासमात्रयुक्ता ग्रहीतॄणां बुद्धयः स्फोटैः प्रवर्त्तन्ते ।"

Just as there is a definite sequence in the transformation of milk into the curd and of seed into a tree, in the same way there is a definite sequence about the cognitions in the perceiver's mind.

We may call these cognitory sequences as the illusory divisions of the sentences or the words, or that of Prakṛti and Pratyaya, etc.

"जैसे दूध से दही और बीज से वृक्ष बनते हुए बीज की प्रगाढ़ता और अंकुरादि की अवस्थाएं पार करनी आवश्यक ही होती हैं, उसी प्रकार वाक्य से होने वाला स्फोट भी वर्णपदादिक्रम से या वाक्यावयवक्रम से सामने आता प्रतीत होता है । कम से कम गृहीता की बुद्धि को ऐसा ही विश्वास होता है ।"

भागवत्स्वपि तेष्वेव रूपभेदो ध्वनेः क्रमात् ।
निर्भागेष्वभ्युपायो वा भागभेदप्रकल्पनम् ॥९२॥

इयं भागभेदकल्पना केवलमुपायत्वेनैव स्वीकर्तुमर्हति, नान्यथा—

"भेदवादिनां कृते गौरित्येतत्पदं गकारौकारविसर्जनीयानामेव योगो, नान्यः कश्चन निर्भागः शब्दात्माऽस्ति तेषां मते । अनेनैव क्रमेण ते शब्दस्य नित्यत्वं मन्यन्ते, नान्यथा । ध्वनिक्रमस्तु तेषामपि कृते परं प्रमाणम् । यतो हि 'गवे' च 'वेग' शब्दे च ध्वनिक्रमेणैव स्वरूपभेदः । तथैव वर्णस्फोटवाक्यस्फोटादिष्वपि निर्भागेषु तेषां तथैव खण्डप्रतीति-स्वीकारः संभवति ।

परमिदमवधेयं यद् भागवत्त्वकल्पनमिदं सर्वं परिणामाधिगतौ केवलं त्यागयोग्यमुपायभूतमेव, न पुनः वास्तवम् ।"

Even if the words or sentences are supposed as having parts, it may be said that the differences in them are due to the sequence of the phonemes or sounds. Or, we can say, that though they are indivisible, still they are taken as divided into different parts ; because such a supposition enables us to catch

the reality of the indivisible things as well, which otherwise may seem impossible.

"मीमांसकादि अखण्डवादी होते हुए भी यह मानते है कि 'नदी' और 'दीन' या 'गवे' और 'वेग' में अखण्डात्मक अर्थानुभूति होते हुए भी उनका ध्वनिक्रम उनकी भिन्न-भिन्न प्रतीति में सहायता करता है। इस प्रकार वे भी खण्ड से ही अखण्डत्व की प्रतीति मानते हैं। यही बात वे वर्णस्फोट, वाक्यस्फोट, आदि के विषय में भी सत्य मानते हैं। अर्थात्, अखण्ड होते हुए भी खण्डात्मक अनुभूति उनकी प्रतीति का माध्यम बनती है।

परन्तु यह सब अन्ततः उपाय मात्र है; क्योंकि ग्रहण के बाद इनकी उपयोगिता ही नहीं रह जाती।"

अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।
कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः ॥९३॥

स्फोटस्याविश्लिष्टं स्वरूपमुपस्कृत्य तस्यैव व्यक्ती ध्वनित्वेनोपस्थापयति—"स्फोटस्य परमं स्वरूपं जातित्वेन स्थितमस्ति। जातिश्च अनेकव्यक्तिसामान्यलक्षणोपेता समूहात्मिका च। स्फोटेऽपि यच्चित्रमेकत्वेन गृह्यते तस्मिन् सन्ति हि नानात्मिकाः संभावना अन्तर्हिताः। स्फोटस्तु ग्रहणस्य स्वरूपम्, न हि तेन तत्स्थानां व्यक्तीनामुपस्थितिर्निषिध्यते। समूहस्वरूपत्वेन स्थितमपि स्फोटात्मकं तत्त्वं समूहमिवान्तर्हितानां मन्यान्यद्रव्यानामपि वाचको ग्राहकश्च भवत्येव। यद्यपि तेषां ग्रहणं स्फोटानन्तरमेव पूर्णतया प्रकाशतामुपयाति, स्फोटस्य संघातैजन्यैकत्वात्। स्फोटचित्रेऽप्येकात्मके तस्य व्यक्तिरूपेणाविविक्ततया स्थिता अनेकव्यक्तयो वर्णपदाद्यर्थरूपत्वेन स्थिताः स्वतन्त्ररूपेण वा स्थिताः तदुपरिव्यज्यन्त एव। ता व्यक्तय एव कैश्चिद् विद्वद्भिः ध्वनिरूपेण स्थिताः कथ्यन्ते। तेषां मते वर्णनिर्मातारो ध्वनय एव तस्मिन् स्फोटे व्यक्तित्वमावहन्ति। यद्यप्यन्ये ताः व्यक्तीः खण्डचित्रात्मकत्वेन अर्थविस्ताररूपेण वा स्वीकुर्वन्ति। तेषां मते त एव विस्तारा आलंकारिकाणां ध्वनेः रूपेण स्थिताः स्वीकर्तुं योग्याः।"

Generally the Sphoṭa is supposed to be a compact and collective mass (*i.e.* Community=Jati), which becomes manifest with the help of a lot of individuals. But according to some scholars these individuals are nothing but sounds, taking part in its clarification or making. But this, latter, proposition is merely hypothetical, and there is no scope for sounds holding on their own, when the Sphoṭa has become manifest.

Note—For Dhvani, we have already said that it must stand for 'Vaikṛta Dhvanī' or the 'power of Suggestion', residing in a word or a sentence. But scholars take it as standing for 'sounds', produced in speech-formation.

ऊपर वैकृत ध्वनि की चर्चा में स्पष्ट है कि वृत्तिभेद का कारण वैकृतध्वनि ही होती है। यहां स्फोट की जातिमत्ता को समझाया गया है —

"स्फोट का स्वरूप 'जाति' ही होता है। अर्थात् उसके द्वारा उपलब्ध चित्र में एकत्व और सामान्यत्व की भावना होती है। पर इस जातिरूप के विवेचन में हम अनेक व्यक्तिरूपों को स्पष्ट होकर उभरता पाते हैं। वास्तव में स्फोट द्वारा गृहीत जातिरूप में ही वे सब व्यक्तिरूप अन्तर्गृहीत होते हैं। उनकी स्पष्टता स्फोट के बाद ही होती है : '**स्फोटादेवोपजायन्ते**।' कई विद्वान् इन व्यक्तिभेदों को ध्वनिकृत या ध्वनिरूप मानते हैं।"

टि०—ऊपर वैकृत ध्वनि की चर्चा आई है। अगले श्लोकों में भी वही चर्चा है। इस कारण ध्वनि का अभिप्राय हम 'वैकृत ध्वनि' ही अधिक उचित समझते हैं।

अविकारस्य शब्दस्य निमित्तैर्विकृतो ध्वनिः।
उपलब्धौ निमित्तत्वमुपयाति प्रकाशवत् ॥९४॥

शब्दस्त्वविकृतो, ध्वनिश्च निमित्तैर्विकृतः। तयोः सम्बन्धं पुनरालोचयति—"निमित्तैः स्थानकरणाभिघातरूपैः स्वकारणैर्विकृतः समुत्पादितो ध्वनिरविकारस्य शब्दस्य ध्वनिकृतविकारादिरहितस्य स्फोटरूपोपलब्धौ प्रकाशवत्प्रदीपादिवद् वा निमित्तत्वमुपयाति।"

उक्तमेव च पूर्वं यत्प्रकाशकस्य धर्मो विषयस्येन्द्रियस्य च प्रकाशनात्मकः।

The word, is only one and indivisible and is not subject to any change, through the sounds modified due to various causes. But that 'Word' itself resides in the sounds. Those sounds act like a 'light', which, varying in colour and density, reflects the apparent variations in the reflexes, but does not basically change the real object itself. The variations of sounds at different occasions, in the same way, do not affect any real change in the original word, and its concept thereby.

"शब्द स्वयं बुद्धिस्थ रूप में नित्य और अविकृत है। प्रयत्न, स्थान, आदि के परिवर्तन के कारण, या ह्रस्वप्लुतादिभेद से, ध्वनि में विकार या अन्तर आता रहता है। परन्तु विकारशील होकर भी ये ध्वनियां उस अविकृत शब्द को ही प्रकाशित करती हैं। विकार का अर्थ बाह्यद्रुतादि वृत्तिकाल से भी लिया जाता है।"

टिप्पणी :—'वृत्तिकाल' काअर्थ हम पहले भी स्पष्ट कर आए हैं, और १०१वें श्लोक में भी चर्चा करेंगे।

न चानित्येष्वभिव्यक्तिर्नियमेन व्यवस्थिता।
आश्रयैरपि नित्यानां जातीनां व्यक्तिरिष्यते ॥९५॥

इत्येवं पूर्वोक्तान् विविधान् मतानुपस्थाप्य तेषां प्रतिकारं च कृत्वाऽधुनाऽभिव्यक्तेरनित्यत्वमुपस्थाप्य तत्परिहारं करोति—

"ध्वनयोऽनित्याः शब्दश्च नित्यः, इति स्वीकृतेऽपि शङ्क्यते यत्कथं घटादिरूपं नित्यतया ग्रहीतुं शक्यते। यतो हि तत्सूचकानां रूपाणामनित्यत्वं सिद्धमेव। अत एव कथयन्ति यदनित्येषु द्रव्यरूपेष्वभिव्यक्तिरप्यनित्यैव भवितुमर्हति। अत एव सा नियमेन व्यवस्थिता कैश्चिद् विद्वद्भिर्नैव गृह्यते। परं भर्तृहरिमते नास्त्येतत्सत्यम्। घटादयो ह्याश्रया अपि यां जातिमभिव्यंजन्ति, सा नित्यैव। आविर्भावतिरोभावौ तु द्रव्याकृतेः न च द्रव्यात्मनः। आत्मत्वेन स्थिता जातिः स्वरूपमावहमाना पुनराविर्भूतायां द्रव्यव्यक्तौ स्वात्मानं विवृणोति। अतः शब्दस्य नित्यत्वस्वीकारे तदभिव्यज्यमानाया जातेरपि नित्यतास्वीकारः स्वयंभूत एव सिद्ध्यति।"

Manifestation itself does not prove that the process is non-eternal, or that it is the result of a non-eternal thing. Because manifestation is not necessarily confined to the transitory or non-eternal things only. The manifestation of the 'eternal' Jati or community is also a certainty, though with the help of their substrata, no doubt.

"ध्वनियों के अनित्य होने के कारण अभिव्यक्ति को अनित्य मानना या अव्यवस्थित स्वीकार करना उचित नही है। यह कहना भी ठीक नही है कि द्रव्य की आकृति मिटने या बनने के कारण आकृति भी नित्य नहीं है। वस्तुत: जब हम शब्द को नित्य मानते है, तब उसके ध्वन्यात्मक आकार के कारण ऐसा नही कहते, बल्कि उसके द्वारा वहन किए जाने वाले स्वरूप के कारण ऐसा कहते हैं। शब्द द्वारा वहन किया जाने वाला यह 'स्वरूप' ही वह 'जाति' है, जो ध्वनिरूप में पुनःपुनः आने पर उस शब्द से एक ही प्रतीति को देती है। 'घट' आदि का शरीर बार-बार मिटने पर भी 'घटत्व' की भावना नहीं मिट पाती। वही 'घट' शब्द के साथ जुड़ी रहकर उसे नित्यता प्रदान करती है। अतः **जाति** नित्य है, और उसकी अभिव्यक्ति ही नित्य शब्द के द्वारा होती है।"

देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामिह।
देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयोः ॥९६॥

"देशभेदाद् नाभिव्यज्यते शब्दः" —इत्येतन्निराकरोति—देशैकत्वं देशनानात्वं वा कायवतामेव धर्मः। न च ध्वनिशब्दौ मूर्तिमन्तौ। तथा हि मूर्तिमन्तोऽपि तावदादित्यादयः एकदेशस्था अपि समकालमेव नानादेशस्था इवोपलभ्यन्ते। सोयमेकदेशस्थानामपि आदित्यादीनां देशभेदविकल्पो वस्तुभेदं नैव जनयतीति। अमूर्तयोस्तु ध्वनिशब्दयोर्देशदेशिभेदव्यवहारातिक्रमात् सत्यपि देशविकल्पावभासे नैवासौ वस्तुगतो भेदस्तयोर्विद्यते। आकाशस्थौ ध्वनिशब्दावेकाधारौ, कथमपि न विच्छिन्नौ विभक्तौ वाऽवगन्तुं पार्येते।"

It is only with the things, having physical and material existence, that those are associated with particular places, times, etc. Even when the difference of time, place, etc., is established in] between the sounds and the word, there comes no real

difference in the nature of these two.

Note—Hence Bhartṛhari and Patañjali declare the unity of Sound and Word : 'tasmād dhvaniḥ śabdaḥ.'

In the Vṛtti Bhartṛhari explains it, basing himself on a Vārttika with the example of Sun, which, though remaining at the same place, is seen at different places simultaneously. That does not necessitate its physical bifurcation or plurality, as such. In the same way, the same word may be used in so many places, and at so many times and even simultaneously.

"देश, काल, आदि का सम्बन्ध शरीरधारी वस्तुओं से ही देखा जाता है। अशरीरी द्रव्य इनके बन्धन में नहीं रहते। दूसरी ओर, इनके बन्धन में रहकर भी आदित्य, चन्द्र, आदि एकदेशस्थ होते हुए भी सर्वत्र दृष्ट और अनुभूत होते हैं। इससे यह भी पता चला कि देशादिभेदमात्र से ही 'वस्तु' का भेद भी नहीं हो जाता। 'जो देवदत्त यहां है, वही मथुरा और स्रुघ्न में भी है'— महाभाष्य की यह उक्ति इससे भी आगे बढ़कर सशरीरियों के भी एकत्व को सूचित करती है। फिर शब्द और ध्वनि को तो अमूर्त माना जाता है। वे ऐसे न भी हों, तो भी 'आदित्यवत्स्युः' आदि वार्त्तिकोक्त महाभाष्यरीति से वे देशादि के कारण वस्तुगत भिन्नता को प्राप्त नहीं होते।"

टिप्पणी :—इस पर भर्तृहरि ने अपनी भाष्यटीका में 'आदित्यवत्स्युः' आदि वार्त्तिकों पर विचारप्रसंग में अधिक प्रकाश डाला है। वैसे 'ध्वनिशब्दयोरन्यत्वे प्रयोजनाभावात्' कहकर भी वे वहीं अन्यत्र उनकी एकता घोषित करते ही हैं।

ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यंग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥९७॥

स्फोटनादयोः सम्बन्धं द्योतयति—"यथा ग्रहणेन्द्रियस्य चक्षुरादेर्ग्राह्यविषयस्य च रूपादेः परस्परं सम्बन्धो नित्यो योग्यतारूपश्च वर्तते, तथैव व्यंग्यस्य स्फोटस्य व्यंजकस्य नादस्य च सम्बन्धो नित्यो योग्यतारूपश्च।"

अत्रेदमवधेयं यत्पूर्वभणितानुसारेण भर्तृहरिः प्रकाशेन द्वारा चक्षुषि तद्विषये च समानत्वेन शक्त्याधानं स्वीकरोति। शक्तिश्च तयोरेवान्तर्भूतोत्तेजकरूपेण प्रकाशेन प्रेर्यत एव। तथैव स्फोटे नादे

च परस्परयोगित्वमभिव्यञ्जकत्वं च शक्तिरूपेण तु वर्तत एव । इदं च सम्बन्धजातं व्यंग्यव्यञ्जकरूपेण व्यवस्थितम् । वाग्व्यापारेण प्रकाशभूतेनेदमेव सम्बन्धजातं स्फोटनादरूपेणाविर्भूतत्वमानीयते । स्फोटे नादे च या शक्तिः स्वाभाविकी सैव स्पष्टतामानीयते ।

Just as there is eternal and definite relationship, based on fitness, in between the senses and their objects, *e g.* in the case of Eyes and Forms respectively, in the same way, there is the eternal type of relationship, in between the received sounds and the Sphoṭa, as that of 'manifestor' and 'manifested'.

Note : We have already explained Bhartṛhari's view that the light affects the eyes as well as the object of perception, by energising their inherent qualities. In the same way, Dhvanis act only by promoting the inherent mutual capability of both, *i.e.*, of Sphoṭa and Nāda.

"जिस प्रकार ग्रहणेन्द्रिय चक्षुरादि की तथा ग्राह्यवस्तु प्रकाश्यविषयादि की स्वाभाविक प्रवृत्ति परस्पर सम्बद्ध होने की है, बाह्यप्रकाशादि तो उनमें अन्तर्हित उस पूर्वोवस्थित शक्ति को प्रबुद्ध मात्र करना है; उसी प्रकार स्फोट और नाद में परस्पर व्यंग्य और व्यञ्जक के रूप में एक दूसरे के साथ सम्बन्ध की स्वाभाविक योग्यता है, जो नित्य है। उच्चारणादि प्रक्रिया तो इस विद्यमान सम्बन्ध को ही प्रकाश में लाती है।"

सदृशग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकम् ।
निमित्तं नियतं लोके प्रतिद्रव्यमवस्थितम् ॥ ९८ ॥

तुल्येन्द्रियग्राह्येऽप्ययमेव नियम इत्युपस्थाप्यते :—

"लोके सदृशग्रहणानां स्वाश्रयसंयोगिद्रव्यान्तरगतस्वसदृशगन्धादिगुणग्राह्याणां गन्धादीनां प्रकाशकमभिव्यञ्जकं प्रतिद्रव्यं प्रत्येकं संयोगिद्रव्येऽवस्थितं निमित्तं नियतं दृष्टमिति ।"

न केवलं श्रवणग्राह्ये नादविषये शब्द एवायमभिव्यञ्जकापेक्षानियमः, किन्तु घ्राणादिग्राह्ये गन्धादिष्वपि अभिव्यंग्यत्वेन स्थितेषु नियमस्त्वयमेव ।

Even when the things are perceived by the senses having

the same attributes as those of themselves, this relationship of manifestor and manifested can be seen as 'fixed'. It is seen in the world that there is a particular causal factor in each case, which is responsible for its manifestation.

"ऊपर भिन्नात्मा इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य घट आदि की इन्द्रिय के साथ ग्रहण-ग्राह्य-योग्यता की बात कही गई है। किन्तु एक या समान ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गन्धादि भी उसी रूप मे अभिव्यङ्ग्य है। गन्धादि भाव है, जो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में रह सकते है। फिर भी गन्धरसादि की अभिव्यक्ति सर्वत्र अपने-अपने विषय मे स्थिर इन्द्रिय के माध्यम से ही होती है। अतः उनका सम्बन्ध भी अपनी ग्रहण-इन्द्रियों के साथ नित्य है। हां, यह अवश्य द्रष्टव्य है कि जहां इन्द्रिय और उसके विषय में परस्पर ग्रहण और ग्राह्य का सम्बन्ध है, वहां स्फोट और नाद में वह सम्बन्ध इसलिए नहीं हो सकता, क्योंकि उन दोनों में इन्द्रिय और उसके विषय जैसा सम्बन्ध नही है। स्फोट और नाद दोनों की उपलब्धि, दोनों के परस्पर व्यंग्य-व्यञ्जक रूप से जुड़े रहने पर भी, श्रवणेन्द्रिय और बुद्धि आदि में होती है, और शब्द उन्हे वहन करने का माध्यम बनता है। इसलिए यहाँ सम्बन्ध, ग्रहण और ग्राह्य का न हो कर, व्यग्य और व्यंजक का होता है।"

प्रकाशकानां भेदांश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते ।
तैलोदकादिभेदे तत्प्रत्यक्षं प्रतिबिम्बके ॥ ६९ ॥

विरुद्धधर्मौ व्यञ्जकव्यङ्ग्यौ कथं परस्परमनुवर्तेते, इत्येतत्स्पष्टीकरोति :—

"प्रकाश्योऽभिव्यङ्ग्योऽर्थः प्रकाशकानामभिव्यञ्जकानां भेदान् धर्मभेदान् अनुवर्ततेऽनुसरति वा। तत्प्रकाश्यार्थस्य प्रकाशकधर्मानुवर्तित्वं तैलोदकादिभेदे, तैलोदकाद्यभिव्यञ्जकानां भेदे, सति तदभिव्यंग्ये मुखादिप्रतिबिम्बके प्रत्यक्षं दृष्टम्।"

The revealed thing or meaning automatically follows the variations in the revealor thing or sound etc. This is evident in the case of reflections varying according to the variations in the reflector oil or water etc. But, still, as the original object does

not vary, despite all the variations in its reflections, in the same way, the real form of the word remains the same or unchanged. despite all the variations in the sound and its reception.

"यह एक सर्वमान्य सत्य है कि प्रकाशक या अभिव्यक्त करने वाली वस्तु के धर्म के अनुसार प्रकाश्य या अभिव्यज्यमान अर्थ का धर्म भी बदल जाता है। यह बात तैल या पानी में पड़ने वाले प्रतिबिम्बों से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। उथले पानी, गहरे पानी, तरंगित पानी, आदि के भेद से एक ही आकार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिबिम्बित दिखाई देता है। तरंगादि भेद से उसमें संख्याभेद भी संभव है। रंग की दृष्टि से भी तेल, पानी आदि के कारण भिन्नता आती है। इसी प्रकार स्फोट के अभिन्न होने का अर्थ यह नहीं है कि उससे सर्वत्र एक सी ही प्रतीति हो। बल्कि ध्वनिभेद से भिन्न व्यक्त होने वाले शब्दों के द्वारा होने वाली अनुभूति भी भिन्न होती है और उसका स्फोटात्मक ग्रहण भी भिन्न-भिन्न होता है।"

विरुद्धपरिमाणेषु वज्रादर्शतलादिषु।
पर्वतादिसरूपाणां भावानां नास्ति संभवः ॥ १०० ॥

अधुना दर्शयति यत्कथं स्वल्पपरिमाणेऽपि ग्रहणे विशालपरिमाणोऽपि ग्राह्यो गृह्यते, विरुद्धं वा ततो दृश्यते :—

"वज्रे दर्पणतले वा निम्नोच्चतयाऽन्यथा वा विशालमपि वस्तु स्वल्पपरिमाणतया, स्वल्पं वा वस्तु विशालपरिमाणतया दृश्यत एव। तत्र च विशालतायां ह्रस्वत्वे वा दर्पणादिकस्य विशालता ह्रस्वता वा नैव हेतुभूताऽत्रतिष्ठते। अन्यथा विरुद्धपरिमाणानामन्तःसंनिवेशिनां पर्वतादिसरूपाणां भावानामुत्पत्तिः वज्रदर्पणादिष्वाधारेषु संभवत्येव न। तेषां ग्रहणं च तत्र तत्र स्वरूपतया भवत्येव। स्वरूपे चाकारादिविचारो नैवोचितः।"

It is not possible that the objects like mountains etc., having different dimensions, should enter and be produced inside the reflectors, like mirror or diamond etc., which are of different or contrasting dimensions.

(But we see that things like mountains etc., are reflected in or through the mirror or diamond etc. Thus a reflectional

reception is possible, even without the original object being involved physically or otherwise).

"वज्र (हीरा) छोटा है, किन्तु उसमें प्रतिबिम्बित होकर या उसके माध्यम से उससे सहस्रगुण बड़ी वस्तु भी देखी जा सकती है। दर्पण छोटा होकर भी बड़ी वस्तु को यथावत् रूप में, निम्न-उच्चादि तलभेद से छोटे-बड़े रूप में दिखा देता है। इस प्रकार ग्रहणोपायभूत माध्यम के छोटा बड़ा होने से वस्तु के स्वरूपग्रहण में अन्तर नहीं पड़ता। यद्यपि वह स्वरूप जिस प्रतिबिम्ब के रूप में दिखाई देता है, वह छोटा-बड़ा अवश्य हो सकता है। द्रव्य का यह स्वरूप शब्द के स्फोट की भांति है, जो ध्वनि के विस्तारादि के अनुसार बड़ा-छोटा न होकर अभिन्नकाल ही प्रतीत होता है। भले ही हम शब्द के उच्चारणकाल को प्राकृतध्वनि का काल होने के कारण 'शब्द का काल' मानते रहें। वह किसी भी भांति 'स्फोट का काल' नहीं है।"

तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु ।
वृत्तिकालः स्वकालश्च नादभेदाद् विभज्यते ॥ १०१ ॥

कालविषयमेवोपसंहरति :—"अभिन्नकाला नित्याश्च वर्णवाक्यपदादयः। नित्यानां हि स्थितौ सहकारिण्याः कालशक्तेर्व्यापारो नैव विद्यते। लोकव्यवहारे तु बुद्ध्या पूर्वान्तापरान्तयोरनुगम्यमानात्मतत्वाः स्थितिं प्रति न भिद्यन्ते। सर्व एव प्रचितापचितरूपा वर्णपदवाक्याख्याः स्फोटाः। उपलब्धिविषयत्वमागतेषु तेषु स्वयमभिन्नकालेष्वपि स्वोपलब्धिकालाऽभिमानो जायते। अत एव स्वकालो वृत्तिकालश्च तस्मिन् प्रसंगे वर्ण्यते शब्दस्य। प्राकृतध्वन्युत्थितः कालः शब्दस्य स्वकालो विद्यते। स च शब्दस्योपलब्धेः प्रागेवोच्चारणकालमात्रे विद्यते। वृत्तिकालश्च धर्मो वैकृतध्वनेः। तस्य च प्रादुर्भावः शब्दस्योपलब्धेरुत्तरमेव बाह्यद्रुतादिभेदेन जायते। अतः कथ्यते यत्तावुभावपि नादभेदादेव परस्परं विभज्येते।

एतदपि स्पष्टमेव यत्तावुभावपि धर्मौ प्राकृतवैकृतध्वनिभेदयोरेव, न पुनः शब्दस्य।"

All the sphoṭas, of Phoneme, Word and Sentence, do not differ in their cognition, as far as time-factor is concerned. It is the difference of the time-factor, involved in the production of

the partaking sounds, that is taken as word's *own time*. And it is the difference of the time-factor of the separate cognition of the sounds, involved in each case of phoneme, word, and sentence, which is supposed to be as the '*time of its recognition*.'

"वर्णपदवाक्य की स्फोटरूपा उपलब्धि और उनकी स्वरूप में स्थिति अभिन्न-काल ही होती है। अतः इन दोनों प्रसंगों में उनसे सम्बद्ध कालविचार का अवसर ही नहीं उठता। पर फिर भी शब्द के सम्बन्ध में उसके स्वकाल और वृत्तिकाल की चर्चा की जाती है। वास्तव में ऐसा नाद के दो भेदों—प्राकृतध्वनि और वैकृतध्वनि—के साथ 'ग्रहण' का उभयात्मक सम्बन्ध होने के कारण कहा जाता है। प्राकृतध्वनिकाल को 'स्वकाल' कहा जाता है, जो कि शब्दोच्चारण में, उसके ग्रहण से पूर्व, प्रयुक्त कालमात्रा से सम्बद्ध होता है। वैकृतध्वनि के काल को 'वृत्तिकाल' कहा गया है, जिसका प्रसंग शब्द के स्फोटात्मक ग्रहण के बाद आरम्भ होता है।"

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥ १०२ ॥

शब्दस्य नित्यपक्षमाश्रित्य स्फोटध्वन्योरन्तरं तस्मिन्विषये मतान्तरं च प्रदर्शयति:—

"संयोगविभागाभ्यां जातेन ध्वनिना व्यंग्यः शब्दो यदोच्चारणेन्द्रियैः श्रवणेन्द्रियैश्च स्वरूपेण गृह्यते, तदा साऽस्यावस्था स्फोटनाम्ना कथ्यते। स्फोटस्तु शब्दस्वरूपमेव। स च ध्वनिभिः साधनभूतैरुपादीयते। अथ तत्प्राप्त्यनन्तरं तदनुग्राहिणो यथोत्तरं प्रचीयमानोपचीयमानाऽभिव्यक्तिसामर्थ्या द्रुतादिवृत्तिभेदव्यवस्थाहेतवो प्रचयापचयात्मका वैकृतध्वनयो जायन्ते। केचन पुनः शब्दजान् तानेव ध्वनीन् शब्दस्वरूपेण स्वीकुर्वन्ति।"

Some of the scholars believe that whatever is produced by the organs of sound-production, through their contacts and separations, becomes Sphoṭa. It is received through its sounds and form. For them, Dhvanis are those, which are produced by the formal appearance of the word itself. Thus, the sphoṭa is related with the primary sounds, while variation in the intent is the product of dhvanis, which originate only after the manifestation of sphoṭa.

"सामान्यतः स्फोट को शब्द का वास्तविक स्वरूप माना गया है, क्योंकि संयोगविभागात्मक ध्वनियों के द्वारा उत्पन्न और नाद द्वारा गृहीत होने पर शब्द उसी रूप में अपनी प्रथम प्रतीति देता है। किन्तु कुछ विद्वान् स्फोटरूप में गृहीत शब्द से उत्पन्न होने वाली प्रचयापचयात्मक वैकृत ध्वनियों से उपलब्ध होने वाली प्रचयापचयात्मक प्रतीति को ही 'शब्द' स्वीकार करते हैं, या शब्द का वास्तविक स्वरूप मानते हैं।"

टिप्पणी—यहां स्फोट की अखण्ड उपलब्धि और तदनन्तर विवेचनात्मक विस्तारमयी उपलब्धि के विषय में दो मतों को स्पष्ट किया गया है।

अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालो न भिद्यते।
परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः॥ १०३॥

स्फोटस्याऽभिन्नकालं स्वरूपं विश्लिष्य वैकृतध्वनिजन्यं ग्रहणं समाहरति :—

"पूर्वमेव स्पष्टीकृतं यद् ध्वनेः स्वभावोऽयं यो ह्रस्वदीर्घादिरूपेण स्थितो ज्ञातश्च। अतो ध्वनीनां संख्यया परिणामेन वोपजायमानं दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं वा शब्दाकृतेरेव, न च पुनः स्वरूपेण शब्दस्य। शब्दस्य बुद्धौ ग्रहणं धारणं वा स्फोटरूपेण बीजरूपेणैव वा वर्त्तते। तदेव श्रोतृकृते अपि स्फोटरूपेणैवोपजायते, गृह्यते च तेन तथैव। स्फोटश्च पुनरभिन्नकालः। अत एव शब्दस्थानां ध्वनीनां ह्रस्वदीर्घादिभेदेन नैव तस्मिन् कश्चिद् भेद उपजायते। स्फोटस्य सर्वेषामेव शब्दानां कृते समानकालपरिमाणत्वात्, सक्षणप्रतीत्या हेतोः। परमनन्तरोपजायमानानां वैकृतध्वनीनां प्रभावोऽयं यत् स एव शब्दः स्फोटोत्तरमर्थाभिव्यक्तिरूपं प्रचयापचयात्मकं विस्तारं लभते। वृत्तिजन्योऽयं प्रभावः शब्दस्य सन्तानो विस्तारो वाऽयमित्येवं कथ्यते। तस्य च नैव कालकृतं बन्धनम्।"

Smallness and the bigness are attributed to the word, due to the length and number of the sounds, partaking in its composition. As both the sounds, *i.e.*, primary and secondary ones, are produced and perished without distinction, there remains

no question of any difference in between a big and a small word. Their cognition in the form of sphoṭa is simultaneous and instantaneous. But the reverberating sounds produced therefrom make all the difference. Due to these reverberating sounds only the duration of the varying repercussions of the same word varies in degrees, in different situations. Sometimes it is indifferent from that of the sphoṭa, while sometimes it seems to become infinite.

"पहले कहा गया है कि ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि का भेद ध्वनियों में होता है। ध्वनियों की अधिकता या कमी के कारण भी हम शब्द के आकारमात्र को छोटा या बड़ा कह सकते हैं। पर उसके 'स्वरूप' पर इस सबका प्रभाव नहीं पड़ता। स्फोट के रूप में शब्द का जो स्वरूप ग्रहण होता है, वह अभिन्नकाल और सक्षण प्रतीति वाला होने के कारण ह्रस्वदीर्घादि भेद से भिन्न नहीं होता। स्फोटरूप में ग्रहण के बाद वृत्तिभेद के कारण उसमें जो विस्तार या ह्रास की प्रतीति सी होती है, वह वैकृत ध्वनियो के कारण होती है। और वह भिन्न भी हो सकती है। शब्द का यह वृत्तिगत अर्थविस्तार-उसे ही 'अनन्त विस्तार वाला' कर देता है। पर यह विस्तार स्फोट के बाद ही होता है।"

टिप्पणी—यहां शब्द के 'ब्रह्मत्व' या बृंहणत्व का वास्तविक रूप सामने आता है। स्फोट के द्वारा उसका ग्रहण होता है। किन्तु उसका अर्थविस्तार या सम्भावनाविस्तार वैकृत ध्वनि के द्वारा ही स्फोटोत्तरकाल मे होता है।

दूरात्प्रभेव दीपस्य ध्वनिमात्रं तु लक्ष्यते।
घण्टादीनां च शब्देषु व्यक्तो भेदः स दृश्यते ॥ १०४ ॥

दीपस्य घण्टायाश्चोदाहरणेन स्फोटनादयोर्ध्वनेश्च भेद विविनक्ति :—

"यथा दूरस्थे प्रज्वलिते दीपे प्रदीपपदार्थोऽस्य प्रभा च सहैव जायेते, दूराच्च प्रदीपस्य प्रभामात्रमेव लक्ष्यते दूरव्यापित्वात्; तथैव यद्यपि स्फोटनादौ सहजौ व्यंग्यव्यञ्जकरूपेण स्थितौ च वर्तेते, तयोर्विस्तरस्तु वैकृतेन ध्वनिना दूरादप्यनुभूयते। अथवा दूरात्केवलं ध्वनिमात्रमेव लक्ष्यते। घण्टाया उदाहरणेनेदं स्पष्टं भवति। यथा

प्रथमाऽभिघातकाले नादस्फोटौ सहजावेव, तदनन्तरं च नाद-मात्रं ध्वनिमात्रं वैव केवलं लक्ष्यते, तथैव शब्देऽप्युच्चरिते प्रथमं नाद-स्फोटयोरेव सहजन्म भवति । तदनन्तरं च ध्वनिविस्तारेणैव तस्या-नुभूतिश्चिरकालं यावदनुभूयते ।"

Just as in the case of a lamp, when we see it from very near, we receive the *light* and *lighted lamp* at the same moment. But if we see it from afar, we receive only its spreading light, and not the lamp itself. And just as the people standing nearby receive the bell sound and its sphoṭa simultaneously, while the people standing afar receive only its reverberating sounds. Similarly there is a distinct difference in between the primary and secondary sounds. Primary sounds exist only before the sphoṭa. But after that there remain only the secondary sounds, as though expansions of the previous ones.

"जिस प्रकार दूरस्थ प्रज्वलित दीप में 'दीप' और 'तेजस्' की प्रतीति साथ साथ ही होती है, किन्तु बाद में दूरवर्ती लोगों को उसका केवल प्रभाविस्तार ही दिखाई देता है, उसी प्रकार उच्चारण होते ही यद्यपि नाद और स्फोट की अनुभूति साथ-साथ और अविहित रूप में होती है, तथापि स्फोट और नाद की प्रत्यक्ष अनुभूति के मिट जाने पर भी वैकृत ध्वनि के विस्तारों के रूप में उनकी अनुभूति बहुत देर तक होती रहती है। या, दूर से शब्द का सम्बन्ध या उसका प्रत्यय केवल ध्वनि के माध्यम से, या उसके रूप में, ही होता है ।

"यह बात घण्टे के उदाहरण से भी भलीभांति समझी जा सकती है । घण्टे पर प्रबल प्रथम अभिघात के साथ ही 'स्फोट' और 'नाद' रूप शब्द की प्रथम प्रतीति हो जाती है। किन्तु दूरतर स्थित लोगों को उसका ज्ञान बाद में विस्तृत होने वाले 'नाद' से होता रहता है । या, विस्तारी परवर्ती ध्वनियों के रूप में उस शब्द की अनुभूति बहुत देर तक होती ही रहती है ।"

द्रव्याभिघातात्प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि ।
कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेर्विशेषकाः ।। १०५ ।।

दीर्घप्लुतादिध्वनिभेदाद् वैकृतध्वनिभवानां नादानामन्तरं कथयति :—

"द्रव्ये द्रव्याभिघाताद् ध्वनिर्जायते। यथा ताल्वादिस्थानेषु जिह्वादिकरणाभिघाताद् वर्णात्मको ध्वनिः। तस्यैव कालमात्राभेदेन दीर्घादिभेदो जायते। अभिघातानन्तरं कम्पोऽप्युपरत एव प्रतीयते। तस्मिन्नुपरते वैकृतध्वन्याख्यास्तदुद्भवा वा नादा जायन्ते। तेषामेवेदं परिणामं यद् बाह्यद्रुतादिरूपाऽभिव्यक्तिः कालविस्तारं वा प्रचयापचयात्मकं विस्तारं वा प्राप्नोति।"

It is because of the greater intensity of the contact in between the places and the organs of articulations that there is a difference in between the length of the Long and Protracted sounds as well It is caused by the vibrations, produced in between the successive sounds. When these vibrations cease, the Nāda or the 'received sounds' become the manifestors of variations in the 'intent or vrtti' of a word. Their length is not related with that of the long or short sounds !

"द्रव्य पर द्रव्य की चोट पड़ने से ध्वनि उत्पन्न होती है। तालु आदि स्थानों पर जिह्वादि इन्द्रियों के अभिघात से भी यही बात होती है। दीर्घ-प्लुतादि भेद तो ध्वनियों में ही, प्राकृत ध्वनियों में ही, होता है। इससे अधिक उसका महत्त्व नहीं है। अर्थात्, स्फोट या उसकी उपलब्धि के बाद होने वाले नादों में यह भेद नहीं पाया जाता। प्राकृत ध्वनि का कम्प समाप्त होने पर भी जो नाद या अनुनाद-सा चलता है, वैकृत ध्वनि का ही रूप होने के कारण, वह बाह्यद्रुतादि वृत्तियों का विशेषक या अभिव्यंजक बन जाता है।"

अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोऽपरे।
स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव ॥ १०६ ॥

ध्वनिप्रकरणमेवोपसंहरन् प्राह :—"यद्यप्युच्चारणात्मको व्यापारः प्रवर्त्तन्नेवास्ते, करणेषु च कम्पोऽपि वर्त्तत एव, तथापि पूर्वगृहीतादखण्डात्मनः स्फोटादन्ये वैकृतो ध्वनयो जायन्ते। स्फोटोपलब्धिरखण्डा। तदनन्तरं च अंशाभिव्यंजको यो व्यापारः स स्फोटादेवोत्पन्नो वैकृतध्वनेः परिणामतया गृह्यते। अतः शक्यते कथयितुं यदनुपरतध्वनिव्यापारादेव उच्चारणात्मिकाया प्राकृतध्वनेः इमे

वैकृता ध्वनयस्तथैव जायन्ते, यथा प्रज्वलितात्प्रदीपाज्ज्वालामादा-यान्याः प्रदीपज्वाला ज्वाल्यन्ते । यथैका प्रज्वलिता हि ज्वालाऽन्यासां ज्वालानां कारणं भवति, तथैव प्राकृतध्वनयोऽपि स्फोटमुत्पाद्य स्वयमध्वस्ता ध्वस्यमाना वा वैकृतध्वन्यात्मकं व्यापारं जनयन्ति ।"

Though the sound-producing organs may still be vibrating, even after the production of the primary sounds, and sphoṭa might have been accomplished, the secondary or reverberating sounds start originating from the latter ; as one flame is lighted from the other one.

Thus, it appears as if the primary sounds are the direct causes of the secondary sounds.

"स्फोट की युगपत् प्रतीति के साथ ही यदि अभी इन्द्रियों में उच्चारण-व्यापारजन्य कम्पन विद्यमान ही हो, और वह समाप्त न हुआ हो, तब भी वैकृत ध्वनियों का विस्तार वहीं से आरम्भ हो जाता है। मानो प्राकृत ध्वनियों से ही वैकृत ध्वनियों ने जन्म लिया हो । यह प्रक्रिया ऐसी प्रतीत होती है, जैसे एक प्रज्वलित ज्वाला से दूसरी ज्वाला प्रदीप्त हुई हो, और दीपमाला-सी बन गई हो ।"

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते ।
कैश्चिद् दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितः ॥ १०७ ॥

अधुना त्रिविधान् वादान् शब्दत्वकल्पनाविषये परिगणयति—

"वायुमणून् ज्ञानं वाऽधिकृत्य सन्ति त्रयो वादा शब्दत्वविषये । केषांचिन्मते तु वायोरेव शब्दत्वमापद्यते । अन्येषां मतेऽणव एव सर्वशक्तित्वाच्छब्दभाजनतां लभन्ते । अन्ये पुनः ज्ञानमेव शब्दत्वेन विपरिणमितं मन्यन्ते । परमेतेषां वैविध्यमेतावदेव यदेते खण्डसत्यतया स्वीकृताः सन्ति । त्रितयमपि वायोरणूनां ज्ञानस्य च समवेतरूपेण शब्दत्वमुपयाति । परं भिन्नं दर्शनमाश्रित्य विविधा हि प्रवादाः प्रचलिताः भवन्ति ।"

There are three different theories about accomplishment of the word-form. According to these Air, Atoms, and Know-

ledge are the respective basic factors, which transform themselves into 'words'. But to others, these different theories are born merely due to the different angles of thinking. Otherwise, each one of them is only partially true.

"वायु, अणु और ज्ञान को लेकर शब्दत्व के विषय में तीन वाद चल पड़े हैं। एक के अनुसार वायु ही शब्दत्व को प्राप्त होता है। दूसरे के मत में अणु ही शब्दत्व को प्राप्त होते हैं। तीसरा ज्ञान का विपरिणाम शब्दत्व के रूप में देखता है। यह मतभेद उनके चिन्तन के आधार की भिन्नता या दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण है। वास्तव में सत्य यह है कि उक्त तीनों ही तत्त्वों का अपना-अपना महत्त्व इस विषय में है।"

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्त्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते ॥ १०८ ॥
तस्य कारणसामर्थ्याद् वेगप्रचयधर्मणः।
सन्निपाताद् विभज्यन्ते सारवत्योऽपि मूर्तयः ॥ १०९ ॥

वायोः परिणामोऽयं यः शब्दः, इत्येतन्मतमुपस्थापयति—

"आत्माऽभिव्यक्तये यदा वक्तुरिच्छा प्रभवति, तदैव तत्प्रति प्रयत्नमपि समुद्भवति। एवं वक्तुरिच्छानुवर्तिना प्रयत्नेन सर्वप्रथमं वायुरेव गतिमान् क्रियते, तस्य सर्वक्रियामूलत्वात्। लब्धगतिश्च प्रेरितो वायुः तत्तत्प्रयत्नानुसारमितश्चेतश्चाभिघातक्रियां करोति। अथवा अवरुद्धो मुक्तो वा सः अभिघातक्रियोत्पादको जायते। अभिघातेन जाता ध्वनय एव शब्दत्वमापद्यन्ते, कथ्यन्ते वा तथा।

"कारणसामर्थ्यात् प्रयत्नादिहेतोः वेगप्रचयधर्मणस्तस्य वेगमापन्नस्य वायोः सन्निपातात् तस्मिन् तस्मिन् स्थाने निश्चितप्रयोजनेनाऽभिघातात् सारवत्योऽपि मूर्तयो विभज्यन्ते। यथा अयोघनसन्निपातेन कठिनतमाः पाषाणमूर्तयोऽपि भिद्यन्ते, तथैव वायोरभिघातहेतोरेव भावरूपिण्यः सारवत्तमा अपि विचारमूर्तयः तालुकण्ठादिस्थानानुसारं प्रयत्नं प्रविभज्य, तेषामभिघातं वा कृत्वा, प्रविभज्यन्ते मूर्ततामानीयन्ते।"

The air set in motion by the effort, corresponding to the desire of the speaker, strikes at the different places of articulation and is, thus, transformed into sounds.

With the impact of the forceful air, caused by the desire and effort of the speaker, even the most solid forms of the sentiments or ideas are broken up and given a shape thereby. It is done by the Air by striking at different places, following the desire of the speaker.

"सर्वप्रथम वक्ता आत्माभिव्यक्ति की इच्छा से प्रेरित होता है। उस इच्छा के प्रबल होने पर उसमें प्रयत्न की भावना उत्पन्न होती है। आत्माभिव्यक्ति के उस प्रयत्न से सर्वक्रियाओं का प्रणेता और प्रेरक वायु गतिमान् या क्रियावान् होता है। गतिमान् यह वायु तालु आदि भिन्न-भिन्न मुखस्थानों पर प्रयत्नानुसार अभिघात करता है। और तब ध्वनि का जन्म होता है। और ('तस्माद् ध्वनिः शब्दः' के अनुसार) इस ध्वनि-प्रचय को ही 'शब्द' कह दिया जाता है।

"प्रयत्न के बल से, वेग के आधिक्ययुक्त स्वभाव वाले इस वायु के पुनः-पुनः अभिघात से सारवती मूर्तियां भी खण्ड-खण्ड होकर सामने आती हैं। यथा लौहघन के पुनः-पुनः अभिघात से कठिन से कठिन पाषाण खण्ड भी टूटकर मूर्ति आदि रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार भाव या विचार का कठिन से कठिन या पूर्णतया विश्लिष्ट रूप भी टूट-टूटकर ध्वनिजन्य शब्द के रूप में सामने आता है।"

टिप्पणी—'वायु' के इस प्रसंग में हमें दो बातें स्मरण रखनी हैं :—

(१) अग्निपुराण का यह श्लोक—

"यदान्तरिक्षे बलवान् मारुतो मारुता हतः।
जायते तत्र निर्घोषो बलवान् वायुसंभवः॥"

(२) महाभाष्य में कथित—'तस्माद् ध्वनिः शब्दः'। क्योंकि वायु के बल से ध्वनि ही पैदा होती है। उसे ही शब्द मानने पर वायु से शब्द की प्राप्ति कही जा सकती है। परन्तु, भर्तृहरि इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं। "ननु च ध्वनिः शब्दगुणः। एवं ह्युक्तम्——स्फोटः शब्दः, ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते इति। उच्यते द्रव्यादयो न भवन्ति शब्दाः। एवंपरायां चोदनायां ध्वनिशब्दयोरन्यत्वे प्रयोजनाभावात्, एकत्वेन व्यपदेशः" (त्रिपदी, १-१-१)।

अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः॥ ११०॥

स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः ।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः ।। १११ ।।

अणव एव शब्दत्वमापद्यन्ते, मतमेतत् प्रस्तौति :—

"वैशेषिकमतेन पृथिव्यप्तेजोवायूनां परमाणवश्चतुर्विधाः । सांख्य-मतेन च तन्मात्रारूपेण पंचविधाः परमाणवो मन्यन्ते, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा शब्दतन्मात्रादिभेदात् । तेषामणुरूपाणां तत्त्वानां संहत्यै-वाऽयं चमत्कारो जायते, यद् विविधरूपेण पदार्थानामाविष्कृतिर्जायते । छाया, आतप, तमः—आदीनि रूपतन्मात्राख्यस्य परमाणोः परिणाम-भूतानि । शब्दतन्मात्रायाश्च परिणामो, वायवीयानामणूनां वा परि-णामो, हि शब्दत्वेन प्रवर्त्तन् दृश्यते । अणूनां भेदसंसर्गात्मिकेयं वृत्तिः कथं प्रभवति भिन्नानां द्रव्याणामुत्पादने विनाशे च, इत्याधुनिका वैज्ञानिका अपि ज्ञातुं प्रयत्नशीला एव । अविनश्वरतां नित्यतां वाऽधि-कृत्य कृतो वादोऽपि परमाणुवादमेवेदमाश्रित्य स्थितः ।

"एषु शब्दाख्या वायव्यश्च परमाणवो स्वशक्तिप्रकाशनकाले, प्रबुद्धायां वा शक्तौ जातायां, प्रयत्नेन हेतुना प्रेरिताः संचालिता वा प्रथममभ्राणीव प्रचयमुपयान्ति । मनसि हृदि च समेत्य प्रबलता-मुपगतास्त एव शब्दाख्याः परमाणवः शब्दत्वमुपयान्ति ।"

According to the Second theory, these are the atoms of all the five or four Great Elements (mahābhūtas), which transform themselves into different kinds, *e.g.*, into light, shadow or darkness, etc., due to their combination or disintegration. These atoms are all-powerful ones.

The atoms of the word-element, relating to Air or Ether accordingly, are set into motion by the effort and collect like clouds. It all happens, when they begin to manifest their power, provoked by the effort.

"वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथिव्यादि आकाशरहित चार महाभूतों के चार प्रकार के परमाणु ही विश्व की समस्त मूर्त्तियों के सर्जक हैं । सांख्य के अनुसार इन पांचों महाभूतों की पांचों तन्मात्राएं ही परमाणुरूप हैं । सर्वसर्जक होने से ये सर्वशक्तिमान् हैं । इनके संसर्ग और भेद के कारण ही विविधात्मक सर्जन और विघटन की क्रिया होती रहती है । छाया, आतप, तम और शब्द

आदि इन्हीं परमाणुओं के परिणाम हैं।

"जब इनकी शक्ति अपना प्रभाव दिखाने लगती है, तब उससे जिस प्रयत्न का उद्भव होता है, उससे प्रेरित ये शब्द-परमाणु बादलों की तरह एकत्र हो कर अभिव्यक्त होते है।"

टिप्पणी :—आधुनिक वैज्ञानिक परमाणु की इसी शक्ति को मानकर आगे बढ़ रहे हैं।

अथाऽयमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥ ११२॥

अधुना चतुर्भिः शब्दोत्पत्तिं ज्ञानस्य परिणामरूपेण विवृणोति :—

"एकमेव शब्दतत्त्वं वाङ्मनसाख्यप्रविभागेन विभक्तं विद्यते। मनस एवेयं वृत्तिर्यज्ज्ञानं नाम। तदाश्रयत्वान्मन एव ज्ञाता। स चातीन्द्रिये वागात्मनि ज्ञानस्वरूपे स्थितः। सोऽयमान्तरो हृदाकाशे वर्तमानो ज्ञाता स्वस्य रूपस्य व्यक्तये शब्दरूपमाश्रयति, शब्दरूपेणैव माध्यमभूतेनात्मानमभिव्यनक्ति च।"

Inner knower of everything is Manas, or mind, which resides in the minute and invisible speech-element. It is this Manas, which tries to display explicitly its own real form, and finally takes the shape of the external word-form.

"शब्दतत्त्व एक और अखण्ड है। 'वाङ्मनसौ' के रूप में उसी का विभाजन होता है। यह मन ही ज्ञाता है। हृदय से सम्बद्ध होने से यह आन्तर है। शब्दोद्भूत और वाक्सहचारी होने के कारण यह सूक्ष्म वागात्मा में स्थित रहता है। ज्ञान का उद्भव वाक् से अविच्छिन्न होने के कारण यह सम्बन्ध शाश्वत भी है। अर्थात् मूल रूप में मन ही व्यापार का मूल है। यह ज्ञाता मन ही आत्माभिव्यक्ति के लिए या आत्मरूप के प्रकाशन के लिए, अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप को रूपात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए, शब्द का ध्वन्यात्मक रूप ग्रहण करके बाहर आता है।"

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते॥ ११३॥

"स एवान्तरो ज्ञाता मनोरूपः तेजसा शरीरान्तःस्थितया विश्लेषसंश्लेषात्मिकया पाकशक्त्या परिपक्वतां प्राप्तो मनोभावत्वं प्राप्नोति। मनोभावमापन्नः स शब्दस्वरूपे ह्यात्मानं स्थिरीकरोति। शब्दस्वरूपे स्थित एवायं ज्ञाता वायुमाविशति, तं प्रेरयति वा। प्राणवायुमाविष्ट एव स इन्द्रियादिजैः प्रयत्नैः बाह्याभिव्यक्ति प्राप्नोति, ध्वनिरूपेण वाऽऽविर्भवति।"

This inner mind or self becomes a 'concrete idea', after gaining maturity, because of the Tejas or the catalytic agent. Only after taking the shape of a 'concrete idea', it enters the Vāyu (or Air), which is nothing but life-breath or Prāṇa. And only after its entrance and transformation in this latter stage, it is emitted in the form of the sounds.

"वह ज्ञाता मन ही बुद्धि की विवेचनात्मक तेजस् शक्ति के द्वारा संश्लेष-विश्लेष प्रक्रिया से परिपाक को प्राप्त होकर 'मनोभाव' को प्राप्त होता है। मनोभाव ठोस होता है। यह ही शब्द के स्वरूप को प्राप्त करता है। स्वरूपवान् यह शब्द ही प्राणवायु को प्रेरित करता है। उत्तेजित प्राणवायु समस्त उच्चारणयन्त्र और तज्जन्यप्रक्रिया को प्रवाहित करता है। तब कहीं ध्वनिमय शब्द का आविर्भाव 'उदीरण' के रूप में होता है।"

टिप्पणी :—'मनोभाव' यहां शब्द की ठोस कल्पना या 'कंक्रीट इमेज' के लिए कहा गया है।

अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्त्तते॥ ११४॥

"उक्तरीत्या सिद्धमिदं यद् वायुर्मनसोऽन्तःकरणरूपस्य आश्रयतां प्राप्नोति। मनो वायुमाश्रित्य तमपि तद्धर्मेणैव युक्तं करोति। तदा वायुस्तेजसा हेतुना गतिशीलः सक्रियो वा भवतीत्यर्थः। तस्य च प्रकाशनात्मकोऽयं व्यापारो पाककारिणा तेजसैव माध्यमेन संभवति। तेज एव तस्य संश्लेषविश्लेषजन्यं परिपाकं कृत्वा तमुच्चारणात्मके व्यापारे समर्थं करोति।"

Thus, in reality, it is this inner-sense (or inner self), which is at the root of all this speech phenomenon. Vāyu or Air becomes the substratum or resting place (*i.e.*, housing place) for it. After getting the qualities of the former, it is activated and works in collusion with the Tejas (or the catalytic agent).

In other words : the 'self' becomes the 'mind', of which 'air' becomes the base. Due to this contact, air becomes impregnated with the attributes of the mind and, thus, becomes the 'word'.

"इस प्रकार वायु अन्तःकरण या अतीन्द्रिय मन का आश्रयस्थल बन जाता है। तब वायु में भी मन की भाति तेजस् के गुण आ जाते है। वह गतिशील होता हुआ मन के संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक गुणों से युक्तवत् हो जाता है। तेज के ही कारण तब उसकी गतिविधि प्रकाशनात्मक व्यापार मे प्रवृत्त होती है।"

विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः ।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते ॥ ११५ ॥

"एवं प्राणो हि मनोव्यापारेण तद्धर्मेण वा युक्तः स्वात्मनो मनोभावरूपस्यैव ग्रन्थीन् विभजन् तस्य विविधव्यञ्जकान् पृथक्कृत्य प्रकाशयन् पृथग्विधान् श्रुतिरूपानुत्पादयति । श्रुत्यात्मको ह्ययं ध्वनिः । तदेव वर्णतयोपलभ्यते । अथ वर्णा हीमे प्राणत्वमापन्नस्य मनोभावस्याभिव्यञ्जका जायन्ते। त एव परिणामतया चापि स्थिताः । अतो वर्णेष्वभिव्यक्तेषु आन्तरस्य ज्ञातुरात्माभिव्यक्तेरिच्छा व्यावृत्ता भवति । एवं च प्राणा वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयन्ते । न स्युर्यद्युपलीनास्तदा तेषां वर्णानां जन्म एव न संभवेत् । का कथा पुनरर्थवत्तायाः । जन्मापि नाम ज्ञातुरिच्छासमावेशादेव प्राणक्रियायाः परिणामभूत एव ।"

Thus, breath or air is not the real cause of this expressional phenomenon, it being a helping agent only. But this agent splits itself into the sounds or phonemes, which finally take the shape of different words. Thus, when phonemes become

manifest, this prāṇa merges itself into the former ones. Only because of this merger the phonemes carry that much weight and meaningfulness. Otherwise, they are meaningless sounds only.

"यह प्राण ही तेजस् के द्वारा अपने आपको ग्रन्थि-विभाजन के रूप में विभक्त करता हुआ श्रुतिरूप विविध वर्णो के रूप में प्रकट करता है। वर्णों के आविर्भाव के साथ ही उसका व्यापार पूरा हो जाता है। तब वर्ण ही प्राणों की उस तेजस् शक्ति को वहन करते है। मानो प्राण वर्णों में ही लीन होकर रह गए हों। अन्यथा, वर्णो के उच्चारण का प्रयोजन ही नहीं रह जाएगा।"

टिप्पणी :—निम्न उद्धरण इस प्रसंग में अवधेय हैं :—

१. पाणिनि अपनी 'शिक्षा' में —"आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥"

२. भर्तृहरि द्वारा उद्धृत शिक्षावाक्य :—"अन्तर्वर्तिना प्रयत्नेनोर्ध्वमुदीरितः प्राणो वायुस्तेजसानुगृहीताः शब्दवहाभ्यः शुषिराभ्यः सूक्ष्मांशं धूमसन्तानवत् संहन्ति। स स्थानेषु शब्दघनः संहन्यमानः प्रकाशमात्रया कयाचिदन्तःसंनिवेशिनः शब्दस्याविभक्तं बिम्बमुपगृह्णाति।"

अथवा, आपिशलि का—"नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरस्यादीनां स्थानानामन्यतमं स्थानमभिहन्ति। ततः शब्दनिष्पत्तिः।"

एक अन्य के अनुसार :—"वायुः कोष्ठस्थानमनुप्रदानमापद्यते। स कण्ठगतः श्वासतां नादतां वा।"

अपर आह :—"मनोऽभिहतः कायाग्निः प्राणमुदीरयति। नाभेरुद्यन् मूर्धन्यभिहतोऽन्येन पुनरुद्यता मरुताभिहन्यमानो ध्वनिः सम्पद्यते। क वा इति ख वा इति।"

अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।
व्यजनाद् वायुरिव स स्वनिमित्तात्प्रतीयते ॥ ११६ ॥

वायोः शब्दनव्यापारे महत्त्वं सूचयन्नपरं मतमाह :—

"शब्दो नित्यः, सूक्ष्मतया बुद्धाववस्थितश्च। सूक्ष्मत्वादेव हेतोस्तदुपलब्धिः स्वत एव न जायते। अस्याभिव्यक्तिः परमावश्यका। तच्च वायुना सम्पद्यते। आकाशरूपेण सूक्ष्मो भूत्वा वायोरेव परमाणवः नित्यशब्दरूपेण मनसि तिष्ठन्ति। तेषां पुनराविर्भाव आत्माभिव्यक्तौ जनितेन प्रयत्नेन वायुराश्रयस्थानात् प्रविभज्यते क्रियाभिरा-

विश्यते च । तेनैव ध्वनिरुत्पद्यते, यः खलु शब्दाभिव्यक्तौ हेतुः । स एव आत्मग्रहणार्थं श्रोत्रसंस्कारमपि करोति ।"

अत्रोदाहरणं व्यजनस्य; यथा तेन स्वाश्रये स्थितोपि वायुः परिचाल्य व्यज्यते, तथैव ध्वन्युत्पत्तिः ।

The eternal word is not perceived by the ears, because of its fineness and minuteness. But, as the already present air in a room becomes the object of feeling, only when it is moved by the fans; in the same way the eternal word, though remaining in the mind in its minute form always, becomes perceivable by the ears, only when it is activated by its own causes.

"शब्द नित्य और सूक्ष्म होकर बुद्धि में स्थित रहता है । आत्माभिव्यक्ति की इच्छा से प्रेरित प्रयत्न वायु को उत्तेजित करते है और अपने मूलाश्रय से पृथक् कर उसे गतिशील करते हैं । शब्दाख्य परमाणु तो पहले से ही हृदयाकाश या वायु के आश्रय में रहते हैं । क्रियावान् यह वायु उन्हें उसी तरह स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करता है जिस प्रकार कमरे में स्थित वायु तब तक गतिहीन सा लगता है, जबतक पंखा चलाकर उसे गतिमय न कर दिया जाए । तब ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कहीं बाहर से वायु आगई हो । यही बात ध्वनिरूप शब्द की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में है ।"

टिप्पणी :—यहां 'व्यञ्जन' की अपेक्षा 'व्यजन' पाठ ही ठीक है । अन्यथा उपमा का सारा महत्त्व ही जाता रहेगा ।

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता ।
विवर्त्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते ॥ ११७ ॥

सर्वसमवेतं सर्वोपचितं चौचित्यमतमुपस्थाप्योपसंहरति :—

"नायं केवलं वायोरेव चमत्कारो यः खलु शब्दाविर्भावाख्यः, नापि बुद्धेरेव केवलं, न च करणाभिघातादेरेव केवलस्य । सर्वेप्येते पक्षभेदा एव केवलम् । शब्दः खलु प्राणाधिष्ठानो बुद्ध्यधिष्ठानश्च । स तु द्वाभ्यां प्राणबुद्धिमात्राशक्तिभ्यां प्रतिलब्धाभिव्यक्तिरर्थं प्रत्याययति । तत्र प्राणो बुद्धितत्त्वेनान्तराविष्टः । स चोर्ध्वमभिप्रवृत्तो ज्वालावद्वर्णस्थानेषु प्रयत्नानुविधायी नित्यशब्दरूपत्वं लभन् विवर्त्तते ।

स च संसृष्टप्राप्तशक्तिविवर्त्तो न्यग्रोधधानादिवद् भेदं प्राप्नोति । एवं परस्मिन् निर्भागेऽभेदे च शब्दब्रह्मणि भेदानुरागमात्रं संनिवेशयति ।"

The power of this fine and eternal word, which resides in Breath (prāṇa) and Mind (buddhi), strikes or moves at different places of articulation and becomes manifest in the form of different sounds.

"शब्द का आविर्भाव या अभिव्यक्ति केवल वायु, प्राण या बुद्धि के अकेले या पृथक् प्रयत्न का विपरिणाम नहीं है । इसमें इन सभी का यथास्थान योगदान रहता है । शब्द का सम्बन्ध बुद्धि और प्राण दोनों से है । उसकी जो शक्ति इन दोनों अधिष्ठानों में स्थित है, वही वायुप्रेरित स्थानों में अभिघात करती हुई पहले से संचित या प्रचित शब्दाख्य परमाणुओं को प्रेरित करके ध्वनिरूप में उत्पन्न करती है । ऐसी स्थिति में बुद्धि को प्राण में ही समवेत समझना चाहिए । अर्थात् बुद्धि और प्राण के समवेत प्रयत्न से ही वायु और करण (इन्द्रियां) गतिशील होकर ध्वनि या शब्द के अभिव्यंजन में प्रवृत्त होती हैं । इस प्रकार वही नित्य शब्द रूप ग्रहण करके प्लक्षन्यग्रोधादि की भांति कण्ठ्यतालव्यादि ध्वनि-भेदों को प्राप्त होकर अभिव्यक्त होता है ।"

टिप्पणी :—'विवर्त्तमाना' शब्द विशेष अवधेय है । यह 'टकराने' के लिए न होकर 'विविधरूपेण वर्त्तमाना' के रूप में है । यहां 'वि' का प्रयोग कर्मप्रवचनीय के रूप में हुआ है ।

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी ।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ।। ११८ ।।

शब्दस्य शक्तेर्महत्त्वमुपस्थाप्य शब्दमेवोपस्करोति—

"विश्वमिदं लोकव्यवहाराधीनम् । लोकव्यवहारश्च शब्दानधिकृत्य तेन द्वारा वा प्रवर्त्तते । तदेव च जनानां परस्परं निबन्धनम् । निबन्धनमिदमनेन हेतुना शब्दद्वारैव सिद्ध्यति । अत उक्तं यत् शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वास्यास्य निबन्धनीति ।

"तस्या एव शक्तेर्नेत्रभूतः प्रकाशोपायभूतः प्रतिभात्मा बुद्धिविषयो वा शब्दः, यः खलु स्फोटनादभेदात्, नित्यकार्यभेदात्, पदचतुष्टयादिभेदाद् वा भिन्न इव प्रसिद्धस्तथाभूतः प्रतीयते च ।"

It is the power of the words that keeps the world united, by becoming the sole medium of all the social behaviour. It is only through this eye (*i.e.*, the word) that all the diversity and differentiation of the mind is perceived. The word is the external manifestation of the mind. Through it one can see the divergent currents in the speaker's mind.

"विश्व या जगत् की स्थिति लोक के परस्पर व्यवहार से नितान्त संनद्ध है। और इस लोकव्यवहार का समस्त आधार है शब्द या भाषा के अस्तित्व पर। इस प्रकार लोकव्यवहार के माध्यम से विश्व को परस्पर ऐक्यसूत्र में आबद्ध करने वाली शक्ति इस शब्दव्यापार में ही है। इस लोकनिबन्धनी शक्ति का प्रकाशोपायभूत ही यह शब्द है, जिसका वास्तविक स्वरूप प्रातिभ है। अर्थात्, इसका अस्तित्व प्रतिभागत होने से ही नित्य है। प्रतिभात्मा होकर भी यह नामाख्यातिभेद से, नित्यकार्यादिभेद से, तथा स्फोटध्वन्यादिभेद से विभक्त सा होकर प्रयुक्त या व्यवहृत होता दिखाई देता है।"

टिप्पणी :—भर्तृहरि द्वारा उद्धृत—

"वागेवार्थं पश्यति वाग् ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति ।
वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुंक्ते ॥"
"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥"

—ऋग्वेद, १.१६४.३९

विशेष—शब्द को 'प्रातिभ' या 'प्रतिभात्मा' कह कर उसकी नित्यता को दार्शनिक आधार दिया गया है।

षड्जादिभेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः ।
तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः ॥ ११९ ॥

तदेव महत्त्वं विवृणोति—"संविज्ञानपदनिबन्धनो हि सर्वार्थः स्मृति-अभिजल्प-आकारादिनिरूपणया निरूप्यमाणो व्यवहारमवतरति। षड्जऋषभगान्धारादिस्वराणां परस्परं भेदः शब्देनैव व्याख्यातस्तत एव च रूप्यते निर्धार्यते वा। अतः प्रसिद्धपदनिबन्धना अप्रसिद्धपदनिबन्धना वा सर्वा अप्यर्थविधाः स्वप्रकाशिकासु शक्तिभूतासु शब्दमात्रासु नितरामाश्रिताः, संबद्धा वा।"

Even in the case of the six notes, *i.e.*, Ṣaḍja, Ṛṣabha Gāndhāra, etc., the difference is recognised with the help of the sounds (*i.e.* the words), though these may be made of non-distinct sounds. Thence, it is quite clear that all kinds of meanings, for their existence and expression, depend upon the powers of the words.

"प्रसिद्ध पदों का समस्त अर्थव्यवहार तो शब्दों के साथ सम्बद्ध होता ही है, अप्रसिद्ध पद के रूप में षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि स्वरों का प्रयोजन और अर्थ भी शब्दों पर ही आश्रित होता है। अतः कहा जा सकता है कि सभी प्रकार की अर्थमात्रा या अर्थविधा शब्द की तन्मात्राभूत प्रकाशिका शक्ति पर ही निर्भर करती है।"

टिप्पणी :—यास्क—'अर्थनित्यः परीक्षेत।'
वाक्यपदीय—१-१३ : "अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।"

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्त्तत ॥ १२० ॥

शब्दब्रह्मण एव विश्वात्मकत्वमुपस्थापयन् पुनरपि प्राह—

"आम्नाये संहृतभोग्यभोक्तृशक्तिवर्गात्मैव बहुधा जगतः कारण-रूपेणोदितः। तेनैवेदं प्रसूयते, जीवनं गृह्णाति, व्यवहारसमर्थञ्च भवति। अत एव छन्दोभ्यः प्रथमं विश्वमजायतेत्येतन्निगद्यते।"

In the scriptures we find the mention of the speech-element as one, in which the powers of the Enjoyer and Enjoyed are submerged and which itself becomes the cause of this world in so many ways. For the Vedic scholars, it is this word-element from which all this universe takes its *birth*, retains its *life*, and becomes capable of mutual or *social behaviour*. That is why it is said that all this universe has evolved from the Chandas or the words of the Vedas.

"वेद के प्रवक्ता यह मानते हैं कि जगत् की सम्पूर्ण प्रक्रिया और परिणति शब्द के ही कारण, अथवा उससे प्रसूत होकर ही, होती है। इसीलिए बार-बार

यह कहा गया है कि छन्दों (वेदमन्त्रों) से ही विश्व की उत्पत्ति या गति-प्रक्रिया सम्भव होती है।"

टिप्पणी :—निम्न सूक्तियां अवलोकनीय हैं—

ब्राह्मणे यथा—"स उ एवैष ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो वैराजः पुरुषः। पुरुषो वै लोकः। पुरुषो यज्ञः। तस्यैता लोकम्पृणास्तिस्र आहुतयस्ता एव ऋयालिखिता वै त्रयो लोकाः।" अथवा—"एष वै छन्दस्यः साममयः प्रथमोऽक्षन् वैराजः पुरुषो योऽन्नमसृजत्। तस्मात् पशवोऽन्वजायन्त। पशुभ्यो वनस्पतयो, वनस्पतिभ्योऽग्निः। तस्मादाहुर्न दारुपात्रेण दुह्यादग्निर्वा एष दारुपात्रम्।"

ऋग्भावमनुसरन्त्युपनिषद्—

"इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यदन्नं तस्मादिमे नामरूपे विषूची।
नाम प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्नमेकं छन्दो बहुधा चाकशीति॥"

पुनरपि ब्राह्मणः—

"वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद्वाग्बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न पदं यच्चनाह॥"

वाक्यपदीये पुनः—

'विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।' १-१।
अथवा—'एकस्य सर्वबीजस्य'। १-४। इत्यादि।

इतिकर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते॥ १२१॥

"सर्वमपि कर्त्तव्यप्रकारविषयकम् 'इदमेव कर्त्तव्यमिति' ज्ञानम् शब्देष्वेवाश्रितं विद्यते। लोके शब्दप्रकल्पितेन वस्तुना व्यवहारो, न तु सता शब्दागोचरेणेति। वाक्परिचयानन्तरं समाविष्टवाचां बालकानामपि पूर्वशब्दावेशात् भावनाया हेतोः, परम्परासंस्कारादिहेतोश्च तासु तास्वर्थक्रियासु अनाख्येयशब्दनिबन्धना प्रतिपत्तिर्जायते। सोऽपि जानाति शब्दद्वारैव स्वाभिप्रायनिवेदनम्।"

All the sociological and behavorial sense of the human beings depends upon the words, without which even their existence cannot be felt. There is nothing in this world, which becomes usable only because of its own existence and still lying

beyond the reach of the Word. Even in the children there arises the sense of cognition, related to the inexplicable words, in their different expressional behaviour. This becomes possible only because of the seeds already present in their minds, due to the previous births or sociological refinement or tradition.

"विश्व का समस्त कार्यव्यवहार शब्द पर ही आश्रित रहता है। अर्थ के बिना शब्द असत् के समान होने से, उसके होने और प्रचलित होने का अर्थ ही यह है कि विश्व का अभिप्रायप्रकाशनादि व्यवहार उससे ही सम्पन्न होता है। और, वह प्रकाशनव्यापार न चले तो विश्व की स्थिति निरर्थक हो जाए। इस बात को पूर्वजन्म से आहित भावना के कारण, अथवा संस्कार परम्परा और अभ्यास के कारण, बोलना आरम्भ करने वाला बालक तक बिना बताए जान जाता है।"

तुलनीय—'आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्' इत्यादि।

आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम्॥ १२२॥

अधुना प्रतिभात्मिकां शब्दभावनां सर्वस्यापि वाग्व्यवहारस्य मूले प्रतिष्ठापयति—"अनादिश्चैषा शब्दभावना प्रतिपुरुषमवस्थितज्ञान-परिग्रहा, यस्याः कथंचिदपि पौरुषेयत्वं न संभवति। तथा हि अनुपदेश-साध्यः प्रतिभागम्य एव करणानामादिमो वारंवारं वानुभूयमानो विन्यासः, प्राणानां प्रयत्नजन्योच्चारणात्मकोऽध्यवसायः, वायोश्च भिन्नेषु मुखस्थानेषु पुनःपुनरभिघातः शब्दोत्पत्तिश्च। न चेत्स्यात् शब्दभावना, को ह्येतान् पुरुषधर्मान् कर्त्तुं प्रतिपादयितुं वा समर्थो भवेत्? शब्दभावनां विना तेषां प्रवृत्तिनिमित्तमेव न विद्येत, कुतः पुनराविर्भावस्तथाभूतानां प्रयत्नानाम्?"

The 'word-sense' may be treated as a seed in the mind. It exists there as a congenial thing or as a thing about the beginning of which nothing can be said definitely. This sense is not the product of the human mind itself. Even the sensory behaviour is congenial and intuitional. It is learnt without any teaching.

Thus, if the word-sense is not already there, then all the actions, like the first movement of the sensory organs, the upward process of breath, and the striking at different places of pronunciation by the air etc., become impossible. Because that sense is the stimulating cause of all the speech-behaviour.

"यदि शब्द की अस्तित्व भावना, या शब्द के पीछे छिपी उसके प्रयोग की प्रेरक भावना, न हो तो शब्दोच्चारण या ध्वनि के उत्पादन मे होनेवाला सारा प्रयत्न ही व्यर्थ हो जाए। तब न तो इन्द्रिया या उच्चारणतन्त्र ही अपने कार्य मे प्रवृत्त होंगे, न ही प्राण गतिशील होंगे, और न ही वायु द्वारा मुखके विभिन्न स्थानों मे अभिघातादि ही किए जा सकेंगे। अर्थात् प्रयोक्ता के मन मे प्रयोग या अभिव्यक्ति की निश्चित भावना की उपस्थिति का ही परिणाम है कि वाग्व्यापार की कोई भी गतिविधि या प्रक्रिया सभव हो पाती है।"

टिप्पणी:—१. अगले दोनों श्लोकों में भी इसी भावना को दूसरे शब्दों में पुष्ट किया गया है।

२. 'आद्यः' के दो अर्थ है: 'जन्म का आरम्भिक प्रयास' या 'प्रत्येक उच्चारण में होने वाला आरम्भिक प्रयास'।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ १२३ ॥

शब्दस्य सर्वार्थमूलकत्वं सर्वज्ञानमूलकत्वं च पुनरुपस्थापयति:—

"एवंभूतः प्रयोक्तृबुद्धिस्थो ग्रहीतृबुद्धिस्थो वा कश्चन प्रत्ययो लोके नास्ति यः शब्दत्वमननुगमन्नेव स्थातुमर्हति। यतः सर्वमपि ज्ञानं, प्रयोक्तुर्ग्रहीतुर्वा, शब्दानां प्रत्यर्थनियतासु शक्तिषु शब्दानुविद्धेन शक्त्यनुपातिना ज्ञानेन आक्रियमाण उपगृह्यमाणो वा वस्त्वात्मा व्यक्तरूपावभास इव जायते। स च निमित्तान्तरादाविर्भवत्सु श्रुतिबीजेषु स्मृतिहेतुर्भवति। सुप्तावस्थायामपि ज्ञानवृत्तिप्रबन्धः सूक्ष्मां वृत्तिमुपालभमानेभ्यः शब्दभावनाबीजेभ्यस्तस्यामवस्थायां सम्भाव्यते।"

"तदेतत् संज्ञानं शब्दप्रकृतिविकारभावेनाविर्भावतिरोभावावजस्रं प्रत्यनुभवति।"

There is no cognition in the world, which does not become the subject of the word. All the knowledge is illuminated or glorified by the 'word', as though it is the piercing and uniting thread of the former, so as to make it into a necklace.

We may say, that without the 'word' all the cognition or knowledge will remain merely as darkness.

"प्रत्यय या ज्ञान-प्रतीति दो प्रकार की मानी गई है। जागृत अवस्था में तो शब्दभावना के कारण ही हमारा सारा वाग्व्यापार चलता है। भावना का साथ न होने पर अनुभूति में आनेवाले ऐसे अनेक तथ्य होते हैं, जिन्हें हम शब्द-रूप द्वारा व्यक्त नहीं करते, यद्यपि उन्हींके साथ अनुभूत अन्य सत्यों को हम शब्द-रूप से व्यक्त कर रहे होते हैं। इसके साथ ही प्रसुप्तावस्था में भी हम सत्यों या स्वप्नों को अनुभव कर रहे होते हैं। उनका वर्णन भी शब्दों के साथ इसलिए नहीं किया जाता कि उस समय शब्दभावना के बीज भी सूक्ष्मता ग्रहण कर चुके होते हैं। इसीलिए उसे तमोरूपा या तामसी अवस्था कहा गया है। परन्तु यह जागृतिमूलक और सुषुप्तिमूलक उभयात्मक ज्ञान ही शब्दभावना के बिना स्थित नहीं रह सकता, ना ही स्वरूप ग्रहण कर सकता है।"

टिप्पणी :—उत्पलदेव निम्न वचन 'आगमोक्त' कहकर प्रयुक्त करते हैं :
"न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चितेर्गतिः ॥"

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ १२४ ॥

वाचो हि सर्वप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य प्रकाश्यत्वञ्चोपस्थापयन् तयोरविच्छेद्यतां घोषयति—"यथा प्रकाशकत्वमग्नेः स्वरूपं, चैतन्यं चैवान्तर्यामिणः, तथैव सर्वस्य ज्ञानस्यापि स्वरूपं वाग्रूपमात्रमेव। याप्यचेतितावस्था तस्यामपि सूक्ष्मो वाग्धर्मोऽनुवर्त्तत इति पूर्वमेवोक्तम्। आत्माभिव्यक्तिकाले वा स्मृतिकाले वा जायमानः सर्वोऽपि प्रत्यवभासो वाग्रूपतामेवाश्रयति, तया विना तस्यावस्थानासम्भवात्। भिन्नरूपाणां चानुपकारिणामात्मान्तरात्मनोरितरेतरस्य वस्तु-मात्राज्ञाने प्रत्यवभासमाने यदुत्तरकालमनुसंधानं प्रत्यवमर्शे एकार्थकारित्वविभागेन शक्तिसंसर्गयोगोपग्रहस्तद् वाग्रूपतायामेव

बद्धम् । साह्यनुसन्दधाना प्रत्यवमृशन्ती च सर्वेप्यर्थकारिणि प्रत्यये शक्त्यपोद्धारकल्पनया भेदसंसर्गमात्रां न विजहाति ।"

If the knowledge were not mixed up with the word, their individual vague cognition, and its linking up with each other, would not become auxiliary, in the act of illumination. It is only the identity of the knowledge and the word that makes the process of identification easier.

"ज्ञान की जाग्रत् और सुप्त स्थितियों की चर्चा हो ही चुकी है । उभयात्मक ज्ञान की अवस्थिति वाक् या भाषा के माध्यम से ही होती है । आत्माभिव्यक्ति और स्मृतिकाल में भी वाक् ही समस्त व्यवहार का माध्यम बनती है । अर्थात् ज्ञान का सभी अवभास शब्द या वाक् के रूप में ही स्थित रहता है । उसी के द्वारा हर प्रकार का विचार-विमर्श हो सकता है; फिर वह चाहे व्यक्त हो या अव्यक्त । यदि वाक् न हो तो यह सब प्रकाशन व्यापार सम्भव ही न हो । तब जैसे प्रकाश ही संसार से मिट जाएगा ।"

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी ।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ॥ १२५ ॥

वाचः सर्वाभिव्यञ्जकत्वं सर्वनिबन्धकत्वं च विवृणोति—

"विद्याशिल्पकलादिभिर्लौकिकेषु वैदिकेषु चार्थेषु मनुष्याणां प्रायेण व्यवहारः प्रतिबद्धः । मनुष्याधीनाश्चेतरस्य भूतग्रामस्य स्थावरजङ्गमस्य प्रवृत्तयः । विद्यादयश्च वाग्रूपायां बुद्धौ निबद्धाः घटादीनां चाभिनिष्पादने प्रयोज्यप्रयोजकानामुपदेशसमीहादि सर्वं वाग्रूपतानुसारेण प्रकल्पते ।"

Human transactions, in regard to the worldly things as well as in regard to the Vedic things, take place through the Sciences, Arts and Crafts. The behaviour of all the rest of the world depends upon the human behaviour itself. All the Sciences and Arts etc. are dependent, for their organised 'form' on the Speech-form, and are fixed in the mind as such.

It is only due to this interdependability of the words that all the things seem to be separated or indivisualised amongst themselves.

"लौकिक और वैदिक प्रयोजनों में प्राय: मनुष्यों को विद्या, शिल्प, कला आदि से वास्ता पड़ता रहता है, या उनका व्यवहार इनमें प्रतिबद्ध होता है। शेष सभी मनुष्येतर स्थावर-जंगम की प्रवृत्ति मनुष्य की प्रवृत्तियों के अधीन, या उसके द्वारा प्रेरित, होती है। उक्त विद्यादि वागात्मा बुद्धि में निबद्ध होते हैं। इस वाक् के द्वारा ही प्रत्येक निर्मित वस्तु के प्रयोज्य-प्रयोजक आदि की कल्पना की जाती है।"

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्त्तते।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजातिषु॥ १२६॥

वाचो हि चैतन्यमिव स्वरूपं स्पष्टीकरोति :—"सा एषा सर्व-विद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी वाग्रूपता संसारिणां प्राणिनां संज्ञा चैतन्यम्। सा च शरीराद् बहिरन्तश्च वर्त्तते, व्यापकत्वात्। सा च शब्दरूपेण स्थिता। अन्त:संज्ञिनामपि सुखदु:खसंविन्मात्रा यावद् वाग्रूपतानुवृत्तिस्तावदेव भवति। अतो वाचैव युक्ता नरतिर्यगादय: प्राणिनश्चेष्टन्ते, न तु स्थावरा वृक्षगुल्मलतादय:।"

The Speech is nothing but the consciousness of the world. It exists within and without. The consciousness of all types of beings does not go beyond the reach of the Speech-element.

It is because of the speech-form of the consciousness, that the distinction becomes possible in between the *sentient* and *insentient* beings.

"सब विद्याशिल्पादि की उपनिबन्धनी यह वाक् संसारियों की चेतना की तरह है। बाह्य रूप से सचेतन प्राणियों का तो इसके बिना व्यवहार चलता ही नहीं, अन्तश्चेतना वाले मानवातिरिक्त प्राणी भी इस वाक् के किसी न किसी रूप का ही सहारा लेते हैं। जिस तरह चैतन्य के न रहने पर प्राणी 'विसंज्ञ' हो जाता है, उसी तरह वाक् के बिना भी उसकी चेतना अचेतन जैसी हो जाती है। चेतन-हीन वृक्षादि को ही वाग्रूपता की आवश्यकता नहीं होती। अत: वाग्रूपता के अभाव का अर्थ है चेतनाहीनता की स्थिति।"

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठ्यकुड्यवत् ॥ १२७ ॥

"वाग्रूपतानुविद्धं चैतन्यमेव अर्थवतीषु क्रियासु प्राणिनः प्रेरयति। वाग्रूपतया स्थितस्य चैतन्यस्योत्क्रान्तौ मरणादिकाले वाऽयं प्राणी विसंज्ञोऽयमितिकृत्वोच्यते। तदा स काष्ठ्यकुड्यवदेव विसंज्ञो विचेतनो वा जायते।"

It is the word that urges all the beings towards the purposeful activity. If that were absent, everything would become insentient, like a piece of wood or a wall.

"वाक् रूप ग्रहण किया हुआ चैतन्य ही सब प्राणियों को सभी प्रकार की सार्थक क्रियाओं में प्रवृत्त करता है। यदि यह वाक्रूपी चैतन्य न रहे, तो प्राणी काठ की भांति चैतन्यहीन और निष्प्राण रह जाए। वाक् उसकी सचेतनता का प्रमाण है।"

प्रविभागे यथा कर्त्ता तथा कार्ये प्रवर्त्तते।
अविभागे तथा सैव कार्यत्वेनावतिष्ठते ॥ १२८ ॥

जागृतिस्वप्नयोर्वाग्रूपतैव व्यवहारसाधनम् : "प्रविभागे साध्यसाधनादिविभागे यथा कर्त्ता तया वाचा व्यावहारिके कार्ये सर्वविधव्यवहारक्रियायां वा प्रवर्त्तते, तज्जाग्रदवस्थायामेव सम्भवम्। अविभागावस्थायां निद्रावस्थायां वा सैवाविषया वाग् बाह्यवस्तुस्वरूपा सती निर्वृत्तिविक्रियाप्राप्तिषु कर्मभावं प्रतिपद्यते।"

एवं च स्वप्नजागृत्योरुभयोरपि कर्मत्वं व्यवहारश्च वाचैव निवर्त्तते।

Just as, while awakened, an agent acts on the objects of all actions through the word-form only, in the same way, while asleep it is the word itself, which becomes the object of all actions. While awakened, we can differentiate and distinguish the objects mutually, but while asleep we do not have the real objects before us. It is, on the other hand, the word itself,

which becomes the object of the actions of Production, Modification, and Reaching.

"जिस प्रकार साध्यसाधनादि के प्रविभाग में समर्थ रहने पर, अर्थात् जाग्रदवस्था में, कर्त्ता वाणी के द्वारा लोकव्यवहार को सम्पन्न करता है, उसी प्रकार अचेतन अवस्था में, अर्थात् निद्रादि में, साध्यसाधनादि विभाग में असमर्थ होने पर भी कार्य या कर्म की दृष्टि से वाणी ही सूक्ष्मावस्था में काम आती है। वहां भी 'गौ' आदि स्वप्नगत वस्तुओं का प्रविभाग अभीष्ट होता ही है, भले ही उसे बोलकर विभक्त एवं व्यक्त न किया जा रहा हो।"

टिप्पणीः—भर्तृहरि द्वारा उद्धृत वचन—

'प्रविभज्यात्मनात्मानं सृष्ट्वा भावान् पृथग्विधान् ।
सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने भोक्ता प्रवर्त्तते' ।।१२७।।

स्वमात्रा परमात्रा वा श्रुत्या प्रक्रम्यते यथा ।
तथैव रूढतामेति तथा ह्यर्थो विधीयते ॥ १२६ ॥

स्वमात्रावादिनां परमात्रावादिनां च दर्शनमुपस्थाप्य वाचैव ह्यर्थो विधीयते, इत्युपन्यस्यति—"स्वमात्रावादिनां द्विविधं दर्शनम्। केषांचिन्मते सर्वो हि विकार आत्ममात्रेति । स एव प्रतिपुरुषमन्तः-सन्निविष्टो बाह्य इव प्रत्यवभासते । रूढत्वादेव तस्य बहिरन्तरिति व्यवहार. । एतत्खल्वेकत्वे अमूर्त्तत्वे वा न संभवति । अन्येषां पुनः मते सर्वप्रबोधरूपः सर्वप्रभेदरूपश्चैकस्य चितिक्रियातत्त्वस्यायं परिणामः । इत्येतत् स्वमात्रादर्शनद्वयम् ।

"परमात्रावादिनामपि दर्शनं द्विविधम् । एकेषां मते चैतन्यं भूतयोनिस्तिलेभ्यो रसवत् प्रविभज्यते। अन्येषां च—अग्नेः स्फुलिंगाः, वायोरभ्रघनाः, पृथिव्या वा सालादय इव चैतन्यात् सर्वं प्रविभज्यते।

"स्वमात्रापरमात्रावादिनामेतद् दर्शनं नानाभाष्येभ्यः प्रतिपत्तव्यम् ।"

"प्रतिपत्तॄणां प्रतिपत्तिक्रमेण स्वान्तःसन्निवेशिना शब्देन स्वस्यार्थः सुखदुःखादिभावेन नानाप्राणिषु बहुधा प्रक्रम्यते । यथा च प्रक्रम्यते तथैव रूढतामेति । तद्यथा परिहासकाले स एव वाक्यः सुखमुत्पादयति स्वार्थेन, अन्यस्मिंस्तु काले स एव दुःखोत्पादी भवति,

तदपि स्वार्थेनैव । लोकभावनासमयेन स्वार्थप्रसिद्धिः । तथाभूतया श्रुत्यैवार्थो विधीयते कल्प्यते संस्क्रियते च ।"

Svamātrāvādins, or the Selfists, say that *either* all this creation is nothing but the manifestation of the Self, *or* all this resultant knowledge and diversity is due to the Consciousness.

Paramātrāvādins, or Theists, believe that this universal manifestation is *either* in the form of an extraction, *or* in the form of a thing illuminated by the omnipresent Consciousness.

Like the Consciousness, the Word is the source of all this diversity and knowledge, in one way or the other. The same word may convey two or more different meanings, in different contexts. Primary, amongst those, is that which becomes deep-rooted in the popular usage. The very ascertainment of the meaning is based on the sonic manifestation of the word.

But, Word is eternal in both the theories. Śruti is its manifestation only.

"स्वमात्रावाद के रूप में दो मत हैं। **प्रथम** : सब विकार आत्मा या पुरुष के ही हैं, और वही बाह्य और अन्तः के विभाग से बंटा-सा दीखता है। **द्वितीय** : सब प्रबोध और सब प्रभेद एक ही चैतन्यात्मा का परिणाम है।

"परमात्रावाद में भी दो मत हैं। **प्रथम** : महाभूतादिविकार चैतन्य में ही स्थित होते हैं और उससे ही तिल में से तैल की भांति निकलते हैं। **द्वितीय** : अग्नि से चिनगारी, वायु में से बादल, और पृथ्वी में से सालादि वृक्षों की भांति चैतन्य से यह सब दृश्यमान संसार पृथक् होकर प्रविभक्त होता है।"

"अतः स्पष्ट है कि प्रतिपत्ताओं के मन में स्थित शब्द द्वारा प्रतिपत्तिक्रम में अपना अर्थ सुखदुःखादि के रूप में विभक्त-सा प्रकट किया जाता है। लोक-प्रसिद्धि से यही अर्थ रूढ़ता को प्राप्त कर लेता है। यथा परिहास काल में जो वाक्य सुख का हेतु बनता है, अन्यत्र वही दुःखोत्पादक भी बन जाता है। अर्थ शब्द में, दोनों ही मतों में, अन्तःस्थित रहता है।"

अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् ।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा ॥ १३० ॥

सर्वः खलु शब्दार्थः कथं श्रुतिमुपाश्रितः, इति कथयति—"श्रुतिरेव हि सर्वं शब्दार्थं स्वरूपपदात्मनि संनिविष्टं दर्शयति ।

सा तमर्थं जनयतीव। सा हि तस्यां प्रत्याय्यात्मना नित्यमवस्थिता। न च बाह्यवस्तुगतं सदसत्त्वं श्रुतिरपेक्षते, नापि विपर्ययाविपर्ययौ। तथा ह्यलातचक्रेऽपि सर्वप्रदेशव्याप्तिरूपा च क्रियादिशब्दरूपभावनानुगता च श्रुतिरवतिष्ठमाना अलातचक्रादिशब्दानां व्यावहारिकाणामर्थवत्तां प्रकल्पयति। तच्छ्रुतिबीजाभिमुख्ये तथाभूतनिमित्तया श्रुत्या प्रकल्पितो वस्त्वाकारः सत्यप्यनुमानबीजलीयस्त्वे रूढीभवति। अत्यन्तमसत्सु च निर्ज्ञातेषु शशविषाणादिषु श्रुतिरेवार्थं जनयति, प्रकल्पयति, स्वात्मन्यवरुणद्धि च।

"शब्देष्ववर्थात्मा सनिबन्धनो निबन्धनो वा नित्यमेव संनिविष्टः। सत्यसति वाऽर्थे प्रतिपुरुषं शब्देभ्यः स्वप्रत्ययानुकारेण भावनानुविधायिनी भिन्नरूपा प्रतिपत्तिरुपपद्यते।"

Thus, it is the 'hearing', which clarifies the meaning hidden behind the word, fixed in our mind. It is mistaken as producing the meaning at the time of pronunciation. The meaning itself is eternally present with the word. This can be proved by the fact that even when there is no real or rational basis for the so-called meaning, we understand it anyhow merely from the pronounced word. We can take the case of 'the circle of fire', which denotes to a spreading state and is not precisely defined, but still which conveys a definite meaning, howsoever imaginary it may be. That means that even the hypothetical and non-existant things may be denoted by the words, as their meanings. And, this is so because of their sonic presentation only. Meaning may reside in the words, as fixed or unfixed.

"निमित्त के उपस्थित रहने पर शब्द से अर्थ की प्रतीति होती ही है। परन्तु निमित्त के नितान्त अस्पष्ट होने पर भी, अर्थात् आकारादि की नितान्त रहितता होने पर भी, शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। ऐसा शब्द के श्रुतिरूपमात्र के कारण होता है। अर्थात् शब्द की श्रुतिमात्र से हो जाने वाली यह अर्थ-प्रतीति तभी सम्भव है, जबकि शब्द में स्वयं ही अन्तःसंनिविष्ट अर्थ की स्थिति स्वीकार की जाए। यह प्रतीति वस्तु के होने या न होने से सम्बद्ध नहीं होती। जिस प्रकार 'अलातचक्र' में चक्र का अर्थ 'रथचक्र' न होने पर भी उस प्रकार की भावना स्वतः आ जाती है; उसी प्रकार शशविषाणादि के नितान्त असिद्ध होने पर

भी उन शब्दों के उच्चारण पर उनका अर्थ ग्रहण हो ही जाता है। अतः अर्थ शब्द के श्रुतिरूप में अन्तःसंनिविष्ट होकर ही स्थित रहता है।"

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥ १३१ ॥

शब्दस्य महादेवत्वमुपस्करोति :—"इह द्वौ शब्दात्मानौ—नित्यः कार्यश्च। तत्र कार्यो व्यावहारिकः, पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही। नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः संहृतक्रम. सर्वेषामन्तःसंनिवेशी विकाराणां प्रभवः कर्मणामाश्रयः सुखदुःखयोरधिष्ठानं सर्वत्राप्रतिहतशक्तिः घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः, सर्वमूर्तीनां प्रकृतिः, नित्यप्रवृत्तप्रत्यवभासस्वप्नप्रबोधानुकारी प्रवृत्तिनिवृत्तिपदाभ्यां पर्जन्यवद् दवाग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः सर्वेश्वरः सर्वशक्तिमान् महान् ऋषभः शब्दवृषभः। तेनैव वाग्योगविदां प्रयोजनं ग्रन्थिच्छेदश्च।"

In Grammar the word is taken as of two kinds : Eternal and Resultant. The latter is that, which is current in worldly usage. It bears the resemblance with the Self, *i.e.* with the mentally fixed word. While the former one is the source of all the usage and application, it has no sense of sequence, no divisibility, producing transformation, acts as substratum of every action, all powerful, all presiding, and great like the Great Self itself. It is this 'word', which is adorable to all those, whosoever are interested in the knowledge of the construction and function of the language or speech. They are eager to establish their union with this Eternal Word only.

"शब्द का वास्तविक स्वरूप प्रयोक्ता की अपनी आत्मा या बुद्धि में स्थित है। या, वह प्रयोक्ता की आत्मा बनकर स्थित है। यही रूप 'नित्य' कहलाता है। 'कार्य' शब्द का वह रूप है जो व्यवहार में आता है और जो श्रुतिरूप में प्रतिबिम्बित होता है। यह अन्तरात्मास्थित शब्द ही महान् वृषभ या ऋषभ है। इसी को वाक् के कुशल प्रयोक्ता साधना चाहते हैं। विविध रूपों में यही विश्व-प्रक्रिया का मूल है।"

टिप्पणी :—देखें महाभाष्य—'चत्वारि शृंगा'० (ऋ० ४-५८-३) की व्याख्या।

तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ॥ १३२ ॥

'तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते'-इति पूर्वोक्तमेव पुनः उपसंहारे प्रस्तौति—

"उक्तरीत्या दर्शितमाहात्म्यस्य शब्दस्य व्याकरणादिहेतुको यः संस्कारः, शब्दापशब्दविवेकश्च, तत्सर्वं परमात्मनः सिद्धिरूपेणैव समवस्थितम् । शब्दब्रह्मणः षड्भावविकारात्मिकां प्रवृत्तिं ज्ञात्वैव तस्य तत्त्वामृतमास्वादितुंशक्यते । व्यवस्थितसाधुभावेन हि रूपेण संस्क्रियमाणे शब्दतत्त्वेऽपभ्रंशोपघातापगमादाविर्भूते धर्मविशेषे नियतोऽभ्युदयः । तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भावविकारप्रकृतिं सत्तां साध्यसाधनशक्तियुक्तां सम्यगवबुद्धय नियता क्षेमप्राप्तिरिति ।"

Once the essence of the word is purified by the form, the correctness of which is established and particular merit is manifested by the disappearance of the obstacles, in the shape of incorrect forms, well-being is certain. Through repeated practice of it, after attaining union with the speech-element through the correct word, and after fully understanding the Intuition, which derives from the speech-element, attainment of the supreme Good (Kṣema) becomes certain.

"ऊपर बताई बातों से शब्द का अपना ब्रह्मत्व और माहात्म्य स्पष्ट है । उस महत्त्व वाले शब्दब्रह्म का शब्दसंस्कार या अपभ्रंशादि से रहित ज्ञान धर्म का साधक होने से स्वयं परमात्मा की सिद्धि देने वाला है । अर्थात् व्याकरण का ज्ञान स्वतः परमात्मा की सिद्धि ही है । उसके निरन्तर अभ्यास द्वारा एवं शब्दमय योग के द्वारा संस्कृत प्रतिभा से षड्भावविकारादि का या साध्यसाधनादि शक्तियों का सम्यक् ज्ञान उपलब्ध करके उस शब्दब्रह्म की वास्तविक अनुभूति ली जा सकती है ।"

टिप्पणी :— तुलना करें : 'तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ।' (वा० १-२२) ।

न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते ।
बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवातो व्यवस्थिता ।। १३३ ।।

ऋग्यजुःसामाभिधा त्रयी कथं सर्वशास्त्राणामागमानां वा मूलम् ?, इति स्पष्टीकरोति—

"सर्वप्रवादेष्वागमवाक्यानां प्रणेतृपरिग्रहेण पौरुषेयत्वमभ्युपगम्यते । वेदवाक्यानि तु चैतन्यवदपौरुषेयाणि स्वीक्रियन्ते । आगमानां प्रणेतृषु विच्छिन्नेषु आगमान्तराणामनुसंधाने वेदवाक्यान्येव बीजवदवतिष्ठन्ते । अतो बीजरूपेण सर्वागमानां त्रयी एव स्वीक्रियते ।"

In all systems, someone is supposed to be the author of the written traditions or Śastras. Thus, they are all of human origin. Vedic mantras, on the other hand, are like consciousness itself, not created by any person. When the authors and their written traditions will perish or disappear, these vedic mantras or thoughts will still serve as the seeds for the establishment and formation of other traditions or Śastras.

"कोई भी सामान्य आगम या शास्त्र बिना कर्त्ता के नहीं माना गया है । उनके ये कर्त्ता पुरुष होने से वे सब पौरुषेय शास्त्र माने जाते हैं । किन्तु वेदों और वेदवाक्यों को अपौरुषेय स्वीकार किया गया है । पुरुषकर्त्ताओं के विनाश पर, या स्वयं उन आगमों के विनाश पर भी, वेदवाक्य बीज के समान बचे रहते हैं और नए-नए आगमों के निर्माण की प्रेरणा का स्रोत बने रहते हैं । इसीलिए सभी आगमों का मूल 'त्रयी' को स्वीकार किया जाता है ।"

टिप्पणी :—इस प्रसंग की स्पष्टता के लिए देखें : इसी काण्ड के श्लोक सं० ५-६-७ ।

अस्तं यातेषु वादेषु कर्तृष्वन्येष्वसत्स्वपि ।
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं लोको न व्यतिवर्त्तते ।। १३४ ।।

श्रुतिस्मृत्योर्लोकप्रसिद्धत्वं लोकस्वीकरणं च विवृणोति : "इह प्रणेतृवदाम्नातानामपि प्रवादेषु विच्छेदोऽभ्युपगम्यते । तेषु प्रत्यस्तमि-

तेषु यावदन्ये प्रणेतारो नोत्पद्यन्ते, आगमान्तराणि च न प्रतायन्ते, तत्राप्यन्तराले श्रुतिविहितानि कर्माणि स्मृतिनिबन्धनांश्च भक्ष्याऽभक्ष्यादीन् नियमान्नातिक्रामन्ति शिष्टाः सामान्या वा जनाः ।"

All the schools believe that, like the authors, the written traditions or Śastras can also disappear. When they come to an end, and before other authors give rise to new traditions or Śastras, there might be an interval, during which cultured people do not violate the rites taught in the Scriptures, *i.e.* Śruti and Smṛti or the rules of behaviour written therein.

"जिस तरह कर्त्ता पुरुष अनित्य हैं, उसी तरह उनकी कृतियां—आगम—भी विनष्ट हो सकते है। जब तक नए प्रणेता सामने न आएं, तब तक नए आगम नहीं बनते। परन्तु इस पर भी धर्म का लोक से उच्छेद नहीं होता। कारण यह है कि लोक धर्म का प्रमाण, उस दशा में, श्रुति और स्मृति से करता है। यह उसके स्वाभाविक अभ्यास के कारण होता है।"

ज्ञाने स्वाभाविके नार्थः शास्त्रैः कश्चन विद्यते ।
धर्मो ज्ञानस्य हेतुश्चेत्तस्याम्नायो निबन्धनम् ॥ १३५ ॥

आम्नायस्य धर्ममूलकत्वं ज्ञानप्रभेदमूलकत्वं च विज्ञापयति—

"यदि ज्ञानं स्वाभाविकं स्वीक्रियते, तस्य चोपलब्धिर्विनैवान्यानि शास्त्राणि पठित्वा कपिलादिभ्योऽन्येभ्यो वा जायते, ते च शास्त्रप्रवृत्तौ स्वाभाविकादेव ज्ञानाद् हेतोः प्रवर्त्तन्ते, ततः सिद्धमेवेदं यत् ज्ञानार्थं शास्त्रादिकं निरुपयोगमेव । न किमपि तस्य प्रयोजनम् । यदि च कपिलादीनामन्यानां वा सामान्यानां जनानां शास्त्रादिप्रवर्त्तनसामर्थ्यात्मकं ज्ञानं धर्ममूलकत्वात् प्रसरति, ते च धर्महेतुत्वादेव ज्ञानोत्कर्षं लब्ध्वा निर्माणे समर्था भवन्ति, तदाऽपि शास्त्रैरन्यकृतैर्न कोऽप्यर्थः सिध्यति । यतः धर्मे शास्त्रेष्वसत्स्वपि आम्नाया एव प्रमाणीभूतास्तिष्ठन्ति । अतो ज्ञानस्योत्कर्षहेतुरपि वेदज्ञानमेव, न पुनः शास्त्रान्तरज्ञानम् । एवं हि वेदानामाम्नायानां वा सर्वबीजत्वं सिद्धमेव ।"

If the Knowledge is taken as spontaneous, there would be no purpose left in accepting the Śastras as its source. And if the spiritual uplift is thought to be the cause of the knowledge. Veda is there as a binding element or as a source of all spiritual attainment.

Thus, in both the ways, there is no purpose in Śastras being accepted as the source of the knowledge.

"शास्त्रप्रणेताओं के ज्ञान को यदि स्वाभाविक मानें, तब भी शास्त्रों की उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जिस तरह वे अन्य शास्त्रों की सहायता के बिना स्वाभाविक रूप में ही सांख्यादि शास्त्रों की रचना में समर्थ हो सकते हैं, उसी तरह अन्य प्राणी भी वह सामर्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत, यदि यह माना जाए कि धर्म के द्वारा उन्हें ज्ञान की उपलब्धि होती है, तब भी शास्त्रों का कोई प्रयोजन नहीं ठहरता। क्योंकि धर्म का स्वाभाविक और सरल ज्ञान वेदों से होता है, न कि अन्यान्य शास्त्रों से। इस प्रकार ज्ञान को स्वाभाविक मानें या धर्मोदित, मनुष्यकृत शास्त्र की उपयोगिता उस दृष्टि से नितान्त असिद्ध ठहरती है। इस प्रकार भी शास्त्रों की अपेक्षा वेद ही सर्वबीज और प्रामाणिक ठहरते हैं।"

वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।
रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते॥ १३॥

वाक्यार्थनिर्धारणे रूपस्य तर्कस्य च स्थानं ज्ञापयति : "उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचं"—इति श्रुत्यनुसारं ये पश्यन्नपि न पश्यन्ति तेषां कृते आगमवाक्यानामपि ग्राह्याग्राह्यशब्दार्थादिव्यवस्था वेदार्थदर्शनं वा तर्केणैव सम्भवति। स च तर्को वेदशास्त्रैरविरोधी भवन्नेव अर्थात् श्रुतिलिङ्गादिमनुसरन्नेव सत्यपथे नयति, नान्यथा। केवलोऽनुमानगम्यस्तर्कोऽनाश्रितो वेदपथं स अनाश्रयणीयः।

"तर्कं विना वाक्यार्थः संभवति न वा?—अस्य प्रश्नस्यायमुत्तर.। ये हि खलु श्रुतिमात्रादेव वाक्यार्थज्ञानेऽसमर्थास्ते वाक्यस्य रूपमात्रमेवाभिव्यक्तं दृष्ट्वा न कंचिदप्यर्थं ज्ञातुं समर्था भवन्ति। यतः रूपमात्रमाश्रित्याधिगतोऽर्थः सन्देहाश्रितोऽनिश्चितश्च भवति। तस्य प्रामाण्यं तु वेदसाक्ष्येणैव संभवति। तच्च दर्शनं तर्काश्रितम्।

The meaning of a statement does not become clear from its mere 'form'. That type of meaning might be dubious and uncertain. Its undoubtedliness or certainty may only be estalished by the corroborating evidence of Vedas. This becomes the subject matter of Logic. But that logic itself becomes a true means, in the hands of those who cannot see the reality from the formal appearance only, if it does not contradict, and rather if it follows, the Vedic tradition.

"देखते हुए भी जो लोग समझ नहीं पाते, उनके लिए वेद-वाक्यों का अर्थ केवल ध्वनिरूप या उच्चरित रूप मात्र से ही ग्रहण करना सम्भव नहीं हो पाता। यह बात सामान्य वाक्प्रयोग पर भी लागू होती है। ऐसे समय अर्थज्ञान के लिए तर्क का आश्रय लेना पड़ता है। किसी भी प्रसंग में यह तर्क मूल ग्रन्थ की, या मूल प्रसंग की, अन्तर्हित और एकसूत्र भावना से विपरीत नही पड़ना चाहिए। अत. वेद-वाक्यों के अर्थ प्रसंग में भी यह तर्क उनकी अपनी भावना और परम्परा के अनुकूल हो, तभी ठीक रहेगा। तभी अर्थ स्पष्ट हो सकेगा।"

टिप्पणीः—इसी को आजकल 'अन्तः साक्ष्य पर आश्रित अर्थ' कहा जाता है।

सतोऽविवक्षा पारार्थ्यं व्यक्तिरर्थस्य लैङ्गिकी।
इति न्यायो बहुविधस्तर्केण प्रविभज्यते ॥ १३७ ॥

अर्थग्रहणे तर्कस्य महत्त्वमुपस्थापयतिः 'विद्यमानेऽप्यर्थे तस्याऽविवक्षा, पारार्थ्येन गर्भितानामर्थानां ग्रहणम्, लिङ्गैरर्थोपलब्धिः, इत्यादौ प्रसंगे तर्कस्यावश्यकता भवत्येव।

सतोऽविवक्षा : लिंगसंख्याकालादीनामविवक्षा, तेषां विद्यमानत्वेपि। यथा 'कर्तुरीप्सततमं कर्म' इति सूत्रे सत्यपि नपुंसकप्रयोगे लिंगभेदं विवक्षितं नैव। सर्वेषामेव च लिगानां कर्मत्वं विधीयते। एवमेव 'गृहं सम्मार्ष्टि' प्रयोगे एकत्वसंख्या अविवक्षिता। तथैव 'स्त्रियं ये चोपजीवन्ति प्राप्तास्तेऽमृतलक्षणं' इत्यत्र कालमविवक्षितम्।

पारार्थ्यम् : 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र अनभिहितोऽपि श्वादिभ्यो दधि रक्षत्येव, पारार्थ्यात्।

लैङ्गिकीः व्यक्ति : शब्दात्सामान्येनावसीयमानस्य स्वार्थस्य

वाक्यान्तरप्रल्पनेन विशेषाऽभिव्यक्तिरिति बहुविधो न्यायः। 'अक्ताः शर्कराः' अत्र 'तेजो वै घृतम्' अनेन लिंगेन 'घृतेनाक्ताः' इत्यर्थो गृह्यते।

एषां च सर्वेषामेव प्रसंगे तर्काश्रयोऽग्राह्यो निवार्यश्च भवत्येव।"

Sometimes, in a sentence, one does not mean, what seems to be said apparently. Sometimes a wider or far-fetched meaning is intended, than what is apparent. And, sometimes the meaning is not conveyed verbally, or it is understood by some specified indications or hints. These facts or conclusions could be ascertained with the help of logic only. And, thus we are able to see the truth, which otherwise might have remained unseen.

"किसी विद्यमान तत्त्व की अविवक्षा, परार्थ की उपलब्धि, और संकेत या लक्षणों से अर्थ की उपलब्धि, आदि ऐसी बातें है, जिनके लिए हमें तर्क का आश्रय लेना ही पड़ता है।"

अविवक्षा—कारक 'कर्म' स्वतः नपुंसक लिंग है, किन्तु उसका अभिप्राय सभी लिंग के शब्दों से है। अतः 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' में लिंग अविवक्षित है।

परार्थोपलब्धि—'कौओं से दही बचाना' से यह भी परार्थ ग्रहण होता ही है कि 'कुत्तों आदि से भी रक्षा करना'।

लैंगिकी अभिव्यक्ति—'अक्ताः शर्कराः' में 'घृतेनाक्ताः' इसलिए अर्थ लिया जाता है कि 'तेजो वै घृतम्' जैसे वचनों में घृत ही संकेतित है। अतः यहाँ भी वह संकेतित माना गया है।

इस प्रकार इन सब प्रसंगों में तर्क का आश्रय लेना ही पड़ता है, ताकि सत्योपलब्धि हो।'

शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः।
शब्दाननुगतो न्यायोऽनागमेष्वनिबन्धनः॥ १३८॥

तर्कोऽपि शब्दानां शक्तिमेवाश्रितस्तदुपनिबन्धनो वा, न पुनरनुमानाश्रितः, इत्युपस्थापयति :

"शब्द एवोपदेष्टा। तत्सामर्थ्यमेवानुगच्छन्तो वक्तारो योग्यशब्दनिबन्धनयैव विवक्षया प्रवर्त्तन्ते। नियतां तु शब्दशक्तिमर्थप्रकरण-

लिंगवाक्यादिभिरनुगच्छत्स्वपि पुरुषेषु शब्दाश्रितमेव सामर्थ्यं पुरुषाश्रयोऽयं तर्क इति मन्यन्ते। शब्दशक्तिरूपापरिगृहीतस्तु साधर्म्यवैधर्म्यमात्राऽनुसारी शुष्कस्तर्को अनागमेषु आगमज्ञानरहितेषु पुरुषेषु व्यर्थ एव । तेन न हि सत्यार्थोपलब्धिर्भवितुमर्हति ।"

It is the power of the word, which is called as Logic and which resides in human beings. For the people, who are non-conversant with the vedic tradition, the mere logic also does not work. It must be based on the words or their powers, and must be in conformity with the Vedic logic.

"पुरुष में आश्रित तर्क शब्द पर ही आश्रित होता है, या उसकी ही शक्ति के रूप में स्थित रहता है। अर्थात् शब्द के लिंग, प्रकरण, वाक्य, काल, आदि पर आश्रित रहकर किया गया तर्क ही हमें सही अर्थ का परिज्ञान करा सकता है। इन सबका बिना आश्रय लिए बढ़ने वाला तर्क निराधार एवं शुष्क होता है। क्योंकि ये सब शक्तियां या उपादान शब्द के ही हैं। इनके द्वारा ही शब्द का सही अभिधेय पता चलता है। सामान्य पुरुष तो वेदादि के ज्ञान से भी रहित होते हैं। उनका अनागम तर्क तो शुष्क या कोरा तर्क कहलाएगा ही; क्योंकि वे उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित हुए बिना केवल श्रुतिमात्र से ही अर्थोपलब्धि संभव मान कर प्रवृत्त होते हैं।"

रूपादयो यथा दृष्टाः प्रत्यर्थं यतशक्तयः ।
शब्दास्तथैव दृश्यन्ते विषापहरणादिषु ॥१३९॥

शब्दानां यतशक्तित्वं कथयति : "यथा रूपत्वे गन्धत्वे रसत्वे वा समानेऽपि सति तस्य तस्य रूपस्य नीलहरितादिकस्य, गन्धस्य विषपुष्पमालतीपुष्पादिकस्य वा, रसस्यापि मधुरकटुवादिकस्य वा, प्रत्येकं प्रभावो शक्तिर्वा पृथगेव ज्ञायतेऽनुभूयते च, दृष्टादृष्टफलत्वं च तेषां दृश्यते, एवमेव शब्दानां वेदसूक्तानां वा विषाऽपहरणादिकं प्रभावमपि पृथक्शो दृश्यतेऽनुभूयते च। शब्दानां प्रभावोऽनेनैव स्पष्टम्। शब्दत्वे समानेऽपि तेषां व्यक्तिशोऽर्थाभिव्यक्तिर्भवत्येव।"

Just as in their sensuous nature the colour, the odour and the touch etc., are common, but still their different varieties and

kinds have their own particular purposes or effects.

In the same way, though all the words are common in nature, still different words or mantras have different purposes and effects. That is why, even if they are one by nature, they are supposed to signify their own individual meanings, also.

"जिस प्राकर रूप रस गन्ध आदि की दृष्टि से समान होने पर भी नीलहरितादि वर्ण, मधुरकषायादिरस और विषैलीमधुरादि गन्ध अपना-अपना व्यक्तिगत प्रभाव रखते हैं, उसी प्रकार शब्द होने की दृष्टि से तत्त्वात्मक समानता होने पर भी प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ और प्रयोजन होता है। जैसे कुछ वेद-सूक्तों का व्यक्तिशः प्रभाव विषापहरण या अन्य भिन्न-भिन्न प्रभावों के रूपमें देखा जा सकता है।"

यथैषां तत्र सामर्थ्यं धर्मेऽप्येवं प्रतीयताम् ।
साधूनां साधुभिस्तस्माद् वाच्यमभ्युदयार्थिनाम् ॥१४०॥

आगमानामिव लोकानामपि प्रयोजनं साधुशब्देनैव : "यथैषां रूपादीनां स्वकार्यविशेषे उक्तरीत्या सामर्थ्यं विद्यते शब्दानां च यतशक्तित्वं दृश्यते, एवं साधूनामपि शब्दानां धर्मविषये सामर्थ्यं प्रतीयताम्। तेषां धर्मसाधनत्वात् यज्ञादिप्रसंग इव लौकिकप्रसंगेऽपि तेषां साधुशब्दानामेव व्यवहारो विधेयः। साधुशब्दानां नैव केवलं धर्मसाधने प्रयोग.। अपितु व्यवहारसाधनेऽपि त एव वाच्यतां गच्छन्ति।"

Just as the sensuous subjects or the words have their individual significance and power, in the same way the correct words also have power, with regard to the performance of the spiritual duties. Thus, for the people, who are striving for their own rise and uplift, only the correct words have any meaning and weight. For them, corrupt words have no importance. These correct words are equally good for the popular usage as well.

"जिस प्रकार रूपादि की सामर्थ्य ऊपर बताई गई है, और जिस प्रकार शब्दों की नियत शक्तियों की चर्चा हुई है, उसी प्रकार साधु या व्याकरण-सम्मत शब्दों की भी सामर्थ्य धर्म के विषय में नियत है। अर्थात् धर्म के अभ्युदय

में शब्दों के साधु प्रयोग का बड़ा भारी हाथ रहता है। परन्तु जिस प्रकार साधु शब्दों की उपयोगिता धर्म और आगमों के सम्बन्ध में है, उसी प्रकार उनकी दैनिक लौकिक व्यवहार में भी है। अर्थात्, दैनिक प्रयोग में भी साधु शब्दों से ही अभ्युदय की प्राप्ति होती है।"

टिप्पणी:—दे० महाभाष्य प्रथम आह्निक—'वाग्योगविद्' के प्रसंग में—'दुष्यति चापशब्दैः'।

सर्वोऽदृष्टफलानर्थान् आगमात्प्रतिपद्यते।
विपरीतं च सर्वत्र शक्यते वक्तुमागमे ॥१४१॥

कथं नैषामधर्मेऽपि सामर्थ्यमिति विवेचयति : "सर्वेष्वागमेषु दृष्टादृष्टाफलासु प्रतिपत्तिषु अधर्मसाधकत्वेन विपरीतफलावाप्तिः शक्यते प्रसङ्क्तुम्। तस्मादागमं कंचित् प्रमाणीकृत्य व्यवस्थिते तस्मिन् या काचिदुपपत्तिरुच्यमाना प्रतिपत्तावुपोद्बलकत्वं समर्थकत्वं वा लभते। एवमेव लौकिकानामपि शब्दानां साधुभूतानां विषये शक्यते वक्तुम्। तत्रापि धर्मसाधनत्वविषये शुष्कस्तर्को हेयः।"

In regard to all conclusions, relating to the visible or invisible results of the sacred texts, it would be possible to postulate an opposite effect, as well. Therefore if, after taking some sacred text as authority, its meaning is settled, then any reasoning, that is put forward, would strengthen the understanding of it.

"सभी लोग आगम या वेदों से ऐसे अर्थों और प्रयोजनों की प्रतीति पा लेते हैं, जिनका फल दृष्ट या अदृष्ट भी हो सकता है। ये अर्थ धर्म के साधनभूत होते है। ठीक इसके विपरीत अधर्मसाधक शब्दो की बात है। जिस तरह धर्म साधनों का प्रत्यय होता है, उसी प्रकार सर्वत्र उससे विपरीत शब्दों को विपरीत रूप में भी लिया जा सकता है।"

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम् ॥१४२॥

व्याकरणस्य स्मृतिरूपत्वं साधुत्वप्रतिपादकत्वं च कथयति : "यथैव भक्ष्याभक्ष्यवाच्यावाच्यत्वादिविषये स्मृतयो व्यवस्थिता:, प्रामाण्यं च तासामेव तस्मिन् विषये, तथैव शब्दानामपि साधुत्वासाधुत्वविषये प्रयोज्याप्रयोज्यत्वविषये वा व्याकरणमेव प्रमाणं, स्मृतिरूपोपनिबद्धत्वात् । स्मृतो ह्यर्थः पारम्पर्यादविच्छेदेन पुनः पुनर्निबध्यते । प्रसिद्धसमुदाचारायां च स्मृतौ अविच्छिन्नं शिष्टप्रयोगमेवाश्रित्य केचन नियमा व्याकरणस्मृतिरूपेण प्रतिबध्यन्ते । तदेव हि स्मृतिनिबन्धनम् । अनया च रीत्या शिष्टप्रयोगः स्थिरतामभ्युपैति ।"

Just as, in the case of eatables and sex etc., the correctness or otherwise is known through the written or unwritten tradition, in the same way the grammatical tradition tells about the correctness or otherwise of the words. What is remembered from generation to generation, in an uninterrupted manner, is time and again embodied in the words or book-forms. Even the unwritten tradition can be ascertained from the practice of the cultural and disciplined people.

"जिस प्रकार भक्ष्याभक्ष्य और वाच्यावाच्य आदि का ज्ञान धर्म-स्मृतियो से होता है, उसी प्रकार शब्दों के साधुत्व या असाधुत्व का ज्ञान व्याकरणस्मृति के द्वारा होता है। इसे 'स्मृति' इसलिए कहा, क्योंकि इसका अस्तित्व शिष्ट प्रयोग की अविच्छिन्न स्मृतिपरम्परा पर आश्रित होता है। स्मृति का कार्य परम्परा को उपनिबद्ध करना है। और, व्याकरण का कार्य भी भाषा के परम्परागत प्रयोगों को नियमित और यथावत् रूपमें सुरक्षित रखना और परम्परा बताना है।"

टिप्पणी:—त्रिपदी के शब्द : "उच्यते स्मृतिशास्त्रमिदम् ।·· पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेश आगमः । श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणाश्च ।"

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥१४३॥

व्याकरणस्य क्षेत्रमुद्घोषयन् वाचो विविधानि पदानि परिगणयति : "एतद् व्याकरणं स्मृतिशास्त्रं वा वाचो अद्भुतं परमं च

पदं विद्यते। यथा वाचो वैखरीमध्यमापश्यन्तीभेदेन त्रीणि पदानि विद्यन्ते, तेषामप्याश्रयभूतत्वादिदं व्याकरणं नाम पदं तेभ्योऽपि नितरामुच्चम्। वाक् चानेकस्थानोद्भूता त्रिभिरेव पदैरत्र व्याकरणे प्रतिष्ठिता, तेषामेवास्य विषयत्वात्।

"परैः संवेद्यं यस्याः श्रुतिविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी। मध्यमा त्वन्तःसंनिवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना। प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती। तत्र व्यावहारिकीषु सर्वासु वागवस्थास्वेतासु व्यवस्थितः साध्वसाधुप्रविभागः पुरुषसंस्कारहेतुरेकेषाम्। परन्तु पश्यन्तीरूपमनपभ्रंशमसंकीर्णं लोकव्यवहारातीतम्। तस्या एव त्रय्या वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्वेण योगेन तत्पश्यन्तीरूपमपि लभ्यते, व्याकरणविषयत्वं चोपगच्छति, इति भावः।"

The Science of Grammar is the supreme and wonderful means of knowledge of any form of speech, which takes its appearance after passing through different stages. Vāikharī, amongst these, is the elaborate and produced form of the speech. Madhyamā is related to the effort and breath stage, *i.e.* lying in between the mental and pronounced states of the speech. This is the stage of articulation as well. Paśyantī is the stage of mind, wherein the joining and breaking process takes place. This constructional and affixation stage of the speech does also come under the purview of grammatical processes. Hence, these all the three stages become the subject of the grammatical analysis.

"वाणी के तीन पद वैखरी, मध्यमा, और पश्यन्ती के रूपमें माने गए हैं। वे तीनों ही इस व्याकरण के क्षेत्र में आते है। अर्थात् उन तीनों ही चरणों में व्याकरण की आवश्यकता रहती है। इस कारण यह व्याकरण त्रिपदा वाक् का इन तीन पदों से भी ऊपर चौथा या सर्वोच्च पद है। यह वाक् अनेक स्थानों से उत्पन्न होती है।

"इनमें से वैखरी अन्यों द्वारा अनुभूयमान व्यक्ता वाक् है। मध्यमा का सम्बन्ध बुद्धि और उच्चारण की प्रयत्नावस्था से है, जिसमें वह ध्वनिक्रम को पाती है। परन्तु, पश्यन्ती बुद्धिस्थ शब्द की वह स्थिति है, जिसमें शब्द अखण्ड

रूपमें मन या बुद्धि मे स्थित रहता है। व्याकरण का साधुत्व-असाधुत्व निर्णय वस्तुतः इसी पद में अधिक प्रभावी रहता है। क्योंकि इस पद में ही ज्ञान अपने शुद्ध रूपमें रहता है।"

टिप्पणी:—यहां यह स्मर्त्तव्य है कि मीमांसक और आलंकारिक वाणी के जिन चार पदों की कल्पना करते है, उनमें 'परा' इच्छा और हृदय का विषय होने के कारण, और शब्दाख्य परमाणुओं का केन्द्र होने के कारण, व्याकरण का विषय नहीं बैठती। शेष तीनों तक ही व्याकरण के प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की पहुंच होने के कारण तथा साधु-असाधु का निर्णायक होने के कारण इन तीन पदों को ही यहां स्वीकार कर व्याकरण को वाणी का 'परम पद' कहा गया है।"

तद् विभागाविभागाभ्यां क्रियमाणमवस्थितम्।
स्वभावज्ञैश्च भावानां दृश्यन्ते शब्दशक्तयः ॥१४४॥

व्याकरणस्य कार्यं प्रतिदिशन्नाह : "विभागो नाम प्रकृति-प्रत्ययादिरूपेण परप्रतिपादनाय कृतो भेदः। तद्यथा धातोस्त-व्यदादयः। तथा चोक्तम् 'यत्तावदयं सामान्येन शक्नोत्युपदेष्टुं तत्तावदुपदिशति।' अविभागस्तु यत्र स्वरूपेणोच्चारणम्। तद्यथा 'दाधर्तिदर्धर्तिदाश्वान्साह्वान्' इति। कानिचिद् व्याकरणानि बह्वविभागानि बहून् शब्दान् प्रत्यक्षपक्षेण प्रतिपादयन्ति। कानिचित्तु विभाज्यानुमानपक्षेण बहूनां समुदायानां प्रतिपादनं कुर्वन्ति। सैषा स्मृतिर्यथाकालं पुरुषशक्त्यपेक्षया तथा तथा व्यवस्थाप्यते। सन्ति तु साधुप्रयोगानुमेया एव शिष्टाः। सर्वेषु ज्ञेयेषु अप्रतिबद्धान्तः-प्रकाशास्ते विशिष्टकालावधिप्रविभागां यथाकालं धर्माधर्मसाधन-भावेन समन्वितां शब्दशक्तिमव्यभिचारेण पश्यन्ति।

"क्रियमाणम्-इत्यस्याभिप्रायो रचिताः रच्यमानाः भाविनो वा व्याकरणागमाः।"

There are two kinds of Grammar. One, which stresses the analytical and critical processes. Other, which stresses on collecting the words and sentence-formations, without taking recourse to the analytical process. The trained or cultured

people know the words by their nature. They also know the various powers hidden therein, as well as the nature of all the beings. Thus, Grammar becomes an instrument in their hands, to show or display the powers of the words, through their different usages in different times. The variety of grammar schools does also originate due to this very fact. It explains the different powers of the words.

"वाणी का वह परम पद व्याकरण दो प्रकार से रचा जाता है: विभागात्मक प्रक्रिया अपनाकर, या अविभाग पाठ की विधि अपनाकर। प्रकृति-प्रत्य-विभाग के द्वारा बहुत लोगों को प्रक्रिया समझने में आसानी रहती है। इसमें 'सामान्य' को खोज निकालने पर अधिक बल रहता है। अविभाग की पद्धति में सिद्ध रूपों की ही परिगणना करके व्याकरण की रचना की जाती है। ऐसा मन्द-बुद्धियों के लिए करना पड़ता है।

"परन्तु वाणी के स्वभाव को जानने वाले अथवा सहज ज्ञान वाले ऋषियों आदि के लिए प्रविभाग और साधु-असाधु का निर्णय स्वाभाविक और सहजात होता है। उन्हें शब्द की शक्तियों और सीमाओं का पदार्थों और भावों के साथ सम्बन्ध पता होता है।"

टिप्पणी :—इसमें शिष्टों की स्मृति और ज्ञान को व्याकरण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। व्याकरण का निबन्धन करने वाले वे ही होते हैं।

अनादिमव्यवछिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम्।
शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृतिः ॥ १४५ ॥

श्रुतिवत् स्मृतिरप्यव्यवच्छिन्ना—इत्युपस्थापयन्नाह: "ये शब्द-प्रमाणकास्ते आगमस्येव वेदस्येव वा श्रुतेरपि व्यवस्थामव्यच्छिन्नां मन्यन्ते। श्रुतिस्तु तेषां कृते अपौरुषेयत्वाद् अकर्तृका अत एवा-विच्छेद्या च। सा चाव्यभिचरितस्वरवर्णानुपूर्व्यदेशकालनियमा न केनचित्कर्त्रा प्रकारान्तरेणावस्थापितपूर्वा सर्वकालं सर्वप्रदेशेषु प्रति-चरणविभागेन व्यवस्थिता। स्मृतिरप्यविच्छेद्या अर्थनित्या च। सा चाविच्छिद्यमानार्थापि गद्यश्लोकवाक्यादिभेदेन प्रतिकालमन्यथा शिष्टैरेव निबध्यते, प्रवाहरूपेण च स्थिता भवति।"

S'ruti has been declared to be the beginningless, continuous and without an author. Smṛti, the written tradition, on the other hand, is composed and edited by the trained and cultured ones. But the latter is also continuous and imperishable, like the former one, because of the fact that the knowledge of the cultured ones is based on the Scripture itself. So, like the Scriptures, Smṛti or written tradition is also continuous.

"श्रुति नाम श्रवण परम्परा में सुरक्षित रहने से पड़ा है। उसकी रचना कोई नहीं करता। वह अपौरुषेय होने से अकर्तृका और नित्य है। स्वरवर्णानुपूर्वी में कोई अन्तर नहीं आता, चाहे स्थान, काल और देश का कितना ही भेद हो जाए। किन्तु स्मृति तो शिष्ट जनों द्वारा निबद्ध परम्परासूत्र हैं। पर शिष्टों और आप्तों द्वारा निबद्ध होने के कारण काल और देश का, अथवा गद्य और पद्य का, भेद होने पर भी सही विश्लेषण पर आधारित होने से वह नित्य और प्रवाह रूप में अव्यवच्छिन्न है।"

टिप्पणी :—यहां श्रुति और स्मृति का तुलनात्मक विवेचन आया है। इस पर विचार हम पहले भी कर आए हैं। मुख्य बात यहां वेद की सर्वकालिक और सार्वदेशिक अभिन्नता की है; जब कि मनुष्यकृत ज्ञान होने से स्मृति में यह भिन्नता स्पष्ट रह सकती है।

अविभागाद् विवृत्तानामभिख्या स्वप्नवच्छ्रुतौ।
भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिंगेभ्यो विहिता स्मृतिः॥ १४॥

श्रुतिस्मृत्योरन्तरं पुनरप्यभिदधाति : "लौकिकानां सामान्यानां कृते कथितं पूर्वं—'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं'—इत्यादिः। येषां तु स्वप्नबोधवृत्या नित्यं विभक्तपुरुषानुकारितया कारणं प्रवर्त्तते, तेषां शब्दब्रह्मणो विवर्त्तभावमधिगतानामृषीणां श्रुतौ वेदे स्वप्नवत् अभिख्या मानसं ज्ञानं भवति। यथा स्वप्ने श्रोत्रनिरपेक्षं बाह्यविषयाभावेन तदनुकारशून्यं च शब्दविषयं मानसं ज्ञानं भवति, तथा सर्गादिभुवां महर्षीणां कृते वेदः। अर्थात् ते प्रज्ञयैव सर्वमाम्नायं सर्वभेदशक्तियुक्तमभिन्नशक्तियुक्तं च पश्यन्ति। स्मृतिस्तु भावानां पदार्थानां तत्त्वं विज्ञायार्षेण चक्षुषा वेदोक्तानेव लिंगान् दृष्ट्वा विहिता भवति। पुरुषानुग्रहोपघातविषयं तेषामर्थानां स्वभावमुपलभ्य, क्वचित्तद्विषयाणि लिंगानि दृष्ट्वा दृष्टादृष्टार्था स्मृतिरुपनिबध्यते कैश्चित्।"

For those great sages, who in the beginning thought everything evolving out of the undivided or undifferentiated whole, the knowledge and revelation of S'ruti came as the revelation in a dream. They recognised and grasped it formally as well as purposefully, as it was revealed to them.

The written tradition or Smṛti, on the other hand, is composed by the later sages, after following the true nature of the things and the signs and indications given in the Vedas. The sense of the divisions is clear in those smṛtis.

"सामान्य जनों को धर्म के लिए श्रुति स्मृति का पाठ या ज्ञान आवश्यक होता है। किन्तु सृष्टि के आदि में होने वाले ऋषियों का ज्ञान तो स्वप्नगत शब्दरहित अवबोध की भांति था, जिसमें उन्हें विषय की उपस्थिति और पदार्थ की विद्यमानता के बिना भी मानस ज्ञान के रूपमें वेद की उपलब्धि हुई थी। ऋषियो का ज्ञान तो सदा ही देशकाल की सीमा से हीन होता है।

"उन्ही में से परवर्त्ती ऋषियों ने स्मृतियों का निर्माण किया। उन्होंने प्रत्येक भाव के तत्त्व को अपनी आर्ष दृष्टि से पहचाना, और उस पहचान का आधार बनाया वेद मे कथित लक्षणों को। बाद में उन्हें ही लिपिबद्ध करके उन्होंने **स्मृति** के रूपमें प्रकाशित किया।"

टिप्पणी :—यहां श्रुति और स्मृति के आविर्भाव का स्वरूप बताया गया है। ज्ञान की प्रतीति का भी उभयत्र अन्तर बतांया गया है। वेद में यह अविभाग और भावों से विवृत्त है, जब कि स्मृति का निर्माण लिंग और भावों के ज्ञान पर आश्रित होता है।

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥ १४७ ॥

"यथैव हि शरीरे दोषशक्तिं रत्नौषधादिषु च दोषप्रतीकारसामर्थ्यं च दृष्ट्वा चिकित्साशास्त्रमारब्धम्; रागादींश्च बुद्धेरुपप्लवान्मवगम्य तदुपघातहेतुज्ञानोपायभूतान्यध्यात्मशास्त्राणि चोपनिबद्धानि; तथैवेदमपि साधूनां वाचः संस्काराणां ज्ञापनार्थमपभ्रंशानां चोपघातानां त्यागार्थं व्याकरणात्मकं लक्षणशास्त्रमारभ्यते।"

The impurities, which belong to the body, mind and speech, are removed and purification is put in by the sciences of Medicine, Philosophy and Grammar, respectively. With the help of these sciences the impurities are reformed into purities.

"जिस प्रकार शरीर में होने वाले दोषज रोगों को और रत्नौषधि आदि में होने वाली उनकी प्रतीकार-सामर्थ्य को देखकर चिकित्साशास्त्र का आरम्भ होता है, और जिस प्रकार रागद्वेषादि बुद्धि के विकारों को जानकर और उनके प्रतिकार के उपायों को जानकर अध्यात्मशास्त्र आदि की रचना की जाती है, उसी प्रकार वाग्दोषों को और उनके संस्कारार्थ उपायों को देखकर व्याकरण रूपी लक्षणशास्त्र की रचना की जाती है।"

टिप्पणी :—व्याकरण का मुख्य कार्य वाग्दोषों को दूर करना है। यह कार्य संस्कार के द्वारा सम्पन्न होता है। दोषत्याग तभी होता है।

शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थविनिवेशिनम् ॥१४८॥

अपभ्रंशत्वं साधुत्वं च परस्परापेक्षमित्युपस्थापयति : "शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारः। नाप्रकृतिरप्रभ्रंशः स्वतन्त्रः कश्चिद्विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रूढितामापद्यमानाः स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादादिभिर्वा गाव्यादयस्तत्प्रकृतयोऽपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते। ते च सास्नादिमत्येव लब्धस्वरूपाः साधुत्वं विजहति। अर्थान्तरे तु प्रयुज्यमानाः साधव एव विज्ञायन्ते। न ह्येतेषां रूपमात्राद्धि प्रतिबद्धंसाधुत्वम्। प्रसिद्धिश्च तेषां विशिष्टार्थविनिवेशनेनैव।"

According to Vyāḍi,' the correct word is the origin of the incorrect one'. There is no corrupt form, independent of the original. But, these may become independent by the constant usage and convention. Just as 'gāvī', in place of 'gāuh', is corrupt, if it is used in the sense the 'cow'; as denoted by the

latter word. But it is correct, if it is used in some sense other than that one. Then it becomes stabilized, as well as recognised, in that latter particular sense

Thus *Correct* or *Corrupt* terms are merely relative and may apply to the same word, in different contexts.

"**अपभ्रंश** भी मूलतः शब्द की प्रकृत अवस्था से ही जन्म लेता है। अर्थात्, सामान्य शब्दों के समान ही अपभ्रंश का मूल भी भाषा की सामान्य प्रकृति से ही आरम्भ होता है। सत्य यह है कि कोई भी शब्द बिना मूल के रह नहीं सकता। अतः **साधु** शब्दों को ही अपभ्रंश शब्दों की प्रकृति मानना होगा। धीरे-धीरे उस अपभ्रंश अवस्था में ही वे अर्थस्वातन्त्र्य की दृष्टि से वे स्वतन्त्र जैसे बन जाते हैं। 'गौः' शब्द के स्थान पर प्रायः 'गावी, गोणी' आदि शब्दों का प्रयोग आरम्भ हो जाता है। परन्तु इनका जन्म उसी 'गौः' से ही हुआ है, क्योंकि अन्ततः ये उसी के विकार हैं। अब स्थिति यह होती है कि अगर तो इन्हें 'गौ' के ही अर्थ में प्रयोग करें, तब तो ये अपभ्रंश शब्द गिने जाएंगे। किन्तु इन्हें यदि किसी भिन्न अर्थ में प्रयोग करें, तब ये भी साधु ही गिने जाएंगे। केवल रूपमात्र के आधार पर किसी भी शब्द को अपभ्रंश या असाधु नहीं माना जा सकता।"

टिप्पणी :—**अपभ्रंश** का इतना सुन्दर और वैज्ञानिक वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता। अपभ्रंश को **असाधु** कहना गलत है। एक शब्द से अनेक बनाना मनुष्य का स्वभाव है। हां, उसी अर्थ में रूपान्तर करना अप्रासंगिक और अर्थ-हीन कहा जाएगा। अतः रूपान्तर का प्रयोजन अर्थ की नवीनता होनी चाहिए। यदि यह नवीनता उपस्थित है, तब कोई भी शब्द 'साधु' ही है। क्योंकि आकार ही अपभ्रष्ट होने का प्रमाण नहीं है। अर्थप्रसिद्धि और लोकप्रसिद्धि तथाकथित अपभ्रंश शब्दों का भी साधुत्व प्रमाणित कर देती है।

अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
निमित्तभेदात्सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम् ॥१४६॥

अपभ्रंशस्य शब्दस्य साधुत्वं विवृणोति : "आवपने गोणी,—स्वविप्रयोगाभिधाने चास्व इत्येतयोरवस्थितं साधुत्वम्। तथा सास्नादिमति ह्रेषितादिलिंगे च निमित्तान्तरात् प्रवृत्तावेतयोरन्यत्र विषये लब्धसंस्कारयोः साधुत्वमेव विज्ञायते। गोणीवेयं गौर्गोणीति

बहुक्षीरधारणादिविषयादावपनसामान्याद् अभिधीयते। तथा अविद्यमानं स्वमस्य सोऽयमस्व इति। तस्माद् वस्त्वपरिगृहीतकारणं न किंचिन्नियतमस्ति, यत्र साधुत्वमसाधुत्वं वा व्यवतिष्ठेत।"

The words like 'asva' and 'goṇī' etc., are Correct ones, if they are not being used in the sense of 'horse' and 'cow' etc., respectively. Their usage in other senses makes or proves them to be correct ones. Everywhere the Correctness is determined by a particular meaning or cause, which is the instigator of that particular usage.

"अश्व और गौ शब्दों के विकार के रूप में ही 'अस्व' और 'गोणी' आदि शब्दों का प्रचलन हो जाता है। पूर्वोक्त दोनों शब्दों की दृष्टि से ये दोनों शब्द अपभ्रंश है। किन्तु यदि इनका प्रयोग उन दोनों से किसी भिन्न अर्थ में होने लगा है, जैसे गोणी का अर्थ बोने के किसी साधन से लिया जाए और अस्व का अर्थ 'स्व से हीन' अवस्था से लिया जाए, तब प्रकृत मूल से आकर भी ये साधु ही कहलाएंगे। अतः वस्तु के साथ जब तक इनका सम्बन्ध ज्ञात न हो, तब तक केवल रूपविकार मात्र देखकर इन्हें असाधु अपभ्रंश या साधु आदि नामों से पुकारना भ्रामक होगा।"

ते साधुष्वमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः।
तादात्म्यमुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः ॥१५०॥

अपभ्रंशानामर्थप्रकाशिकां शक्तिं स्पष्टीकरोति : "अपभ्रंशा हि शब्दाः साधूनां शब्दानां विषये प्रयुज्यमानाः अक्षिनिकोचादय इव परिचयादुपगृहीतस्वरूपा प्रसिद्धाश्च, साधुरूपेणैवार्थं प्रत्याययन्ति। तादात्म्यमिति वस्तूपग्रहणेन साधुशब्दादभेदात्मा प्रत्ययः। अर्थस्य प्रकाशका इति धात्वादिजन्यमर्थतत्त्वं तथाभूतं नैवास्ति। अत एवोदितमनु मानेनेति। यथानुमानेन कश्चित्प्रत्ययो गृह्यते, न च धात्वादिमूलकत्वात्, तथैव ह्यपभ्रंशानामेतेषाम्।"

The incorrect or corrupt words give rise to a cognition like that of the correct ones. That is due to the similarity of certain

signs or inferences. This cognition, of their relation with the correct ones, makes them one with the latter. Then, after becoming one with the correct ones, they convey the meaning of the latter as though it was their own.

"अपभ्रंश शब्द भी साधु शब्दों की भांति अर्थ का प्रत्यय कराते हैं। किन्तु उनके द्वारा होने वाला यह प्रत्यय अनुमान पर आश्रित होता है। धातु-प्रत्ययादि-विभाग की भांति उनमें कोई स्थिर आधार नहीं खोजा जा सकता। फिर भी अर्थ का प्रत्यय कराने की दृष्टि से वे साधु शब्दों से इस अर्थ मे अभिन्न होते हैं कि वे अक्षिसंकोचादि की भांति किन्हीं स्थिर और प्रसिद्ध अर्थों की अभिव्यक्ति कराने लगते हैं। पर इनका स्थितलक्षण शब्दार्थ या वस्तुगत अर्थ, उतना साधार न होकर, अक्षिसंकोचादि की भांति अनुमानाश्रित होता है। इनसे किसी वस्तु या द्रव्य का साक्षात् अभिधान नहीं होता।"

न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः।
ते यतः स्मृतिशास्त्रेण तस्मात् साक्षादवाचकाः ॥१५१॥

कथमेतेषामपभ्रंशानां पर्यायित्वं नैव सिद्ध्यति इति विवेचयन्नाह: "न हि शिष्टसमाचारप्रसिद्धेरन्यदेवंविधेषु स्मृतिनिबन्धनेष्वर्थेषु निमित्तमभिधीयते। गाव्यादयश्चेत् पर्यायाः स्युरेतेऽपि शिष्टैर्लक्षणैरनुगम्येरन् प्रयुज्येरंश्च। यश्च प्रत्यक्षपक्षेण प्रयोजकेष्वभिधेयेषु प्रवर्त्तते स साधुः। साक्षात्तु प्रयोजकं वाच्यमर्थरूपं साधुभिः प्रत्याय्यते। तेषां पुनरपभ्रंशानां साक्षादवाचकत्वाद् अनुमानाश्रयत्वाच्च साधुत्वं नैव व्यवस्थितम्। अत पर्यायरूपेण तेषां ग्रहणं साधुत्वाभावे नैव सिद्ध्यति।"

They cannot be treated as to be directly expressives. It is because, they are never thought as synonyms of the 'correct' words by the cultured and disciplined ones, as far as the written form of tradition, *i.e.* Grammar, is concerned. That means that in the eyes of grammar, those incorrect words, even though they denote a definite meaning, are not to be accepted as directly expressives and hence those are incorrect or corrupt ones.

"क्योंकि शिष्ट लोग उन्हें स्मृतिशास्त्र के द्वारा साधु शब्दों के प्रर्याय के रूप में स्वीकार नहीं करते, अतः वे वस्तुओं या पदार्थों के भी साक्षात् अवाचक हो जाते है। अर्थात्, उनका अर्थों से वाच्यवाचक सम्बन्ध नहीं होता। शिष्ट लोग उन्हें स्मृतिशास्त्र के अनुकूल इसलिए नहीं पाते कि उनमें परम्परापुष्ट लक्षणों का अभाव पाया जाता है। इसीलिए शिष्ट लोग इन्हें प्रयोग भी नहीं करते।"

टिप्पणीः—त्रिपदी टीका में भर्तृहरि कहते हैं : 'शिष्टप्रयोगमभिसमीक्ष्य प्रकृतिरूहितव्या प्रत्ययश्च।' अर्थात् साधुत्व का निर्णय और प्रकृति-प्रत्यय का विभाग शिष्टप्रयोग पर निर्भर करता है। पर अपभ्रंश शब्दों को शिष्ट लोग पर्याय के रूप में प्रयोग नहीं करते। इसीलिए उन्हें साधुवत् व्यवहृत नहीं किया जा सकता।

अम्बाम्बेति यथा बालः शिक्षमाणोऽपभाषते।
अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निश्चयः ॥१५२॥

अव्यक्ता अपि ध्वनयोऽर्थं वहन्त्येव प्रतिपत्तारश्चानुगच्छन्त्य-भिप्रायमित्यर्थाभिव्यक्तिरपभ्रंशेनापि संभवा : "यथा बालो हि करणमात्रशक्तिवैक्ल्याद् यत्नवानपि साधुप्रयुयुक्षायामव्यक्तां श्रुतिं प्रयुङ्क्ते। प्रतिपत्तारो ग्रहीतारो वा तस्याव्यक्तस्य ध्वनेः प्रकृतिं व्यक्तं शब्दमवधारयन्ति जानन्ति वा। तेषां कृते बालध्वनिर्नैवार्थ-युक्ता। अपितु तेन सूचितं साधुशब्दमेव ते तत्रार्थविनिवेशिनं मन्यन्ते। एवमेवापभ्रंशशब्दविषयेऽपि वेदितव्यम्। अर्थस्तु तत्रापि साधुशब्दस्यैव, यस्यायं विकारोपभ्रंशः।"

Just as the child, while learning to pronounce 'ambā', (*i.e.* mother), pronounces it in the beginning as 'mmā, mmā', etc., in a very indistinct form. And, just as the listeners, who know his speech very well, understand the meaning of that word, relying only on the correct form of that. Thus the Incorrect word becomes the source of the ascertainment or the knowledge of the correct one.

"बोलना सीखते हुए जिस प्रकार तुतलाहट के साथ बालक कोई अव्यक्त

ध्वनि या अस्पष्ट शब्द बोलता है, परन्तु सुननेवाले उससे सम्बद्ध किसी साधु शब्द की कल्पना करके ही उसमें स्थित अर्थ का अनुमान करते हैं। परन्तु इस प्रकार का अर्थ उनकी दृष्टि में साधु शब्द का अर्थ ही गिना जाएगा, न कि उस अव्यक्त ध्वनि का। इसी प्रकार अपभ्रंश के द्वारा भी यदि कोई साधु अर्थ प्रतीत होता है, तो वह उसका न होकर साधु शब्द रूप से सम्बद्ध ही होता है।"

एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते।
तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥१५३॥

तदेवोपसंहरते : "संकीर्णायामपमिश्रायां वा वाचि कालक्रमेण साधुविषयेऽपशब्दा अपभ्रंशा वा प्रयुज्यन्ते। तैः शिष्टा लक्षणविदः साधून् प्रतिपद्यन्ते। तैरेव साधुभिस्तदर्थमभिधीयमानं ते पश्यन्ति। साधुशब्दप्रयोगेऽर्थसंशये सति साधुना यत्किंचिदानुपूर्वीसाम्येन तदपभ्रंशमनुमीय तेनाऽर्थं प्रतिपादयन्तीति यावत्।"

In the same way, when an incorrect word is used in place of a correct one, the understanding of its meaning is preceded by the correct word coming to the mind. It is so, because the cultured people understand the correct words only. According to them the meaning resides in the correct words alone. The corrupt form causes the inference of the correct one, as smoke of the fire.

"इसी प्रकार जहां साधु शब्द का प्रयोग विहित हो, वहां यदि अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया जाए, तब उसके द्वारा उसी अर्थ का वहन होता है, जिसे अन्यथा वह साधु शब्द वहन करता। दूसरे शब्दों में, अपभ्रंश शब्द के द्वारा लोकप्रसिद्धि के कारण वही अर्थ समझा जाने लगता है, जो अर्थ उससे सम्बद्ध साधु शब्द से समझा जाने चाहिए था।"

पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः ॥१५४॥

"साधुविषये एवंभूता ये ऽपभ्रंशशब्दा परम्परादीर्घतया बहुकालपर्यन्तं प्रयुज्यमाना रूढितामुपगता प्रचलिता व्यवहृता वा

भवन्ति, तत्तु वक्तृणां गुणसंस्काररहितत्वात् तथा संभवति। येषु चार्थेषु ते प्रचलिता भवन्ति, साधुशब्दाभिहिता तेऽर्थास्तदा साधुशब्दैर्न कथ्यन्ते। तेषां स एव प्रकृतिभूतः साधुशब्दस्तदा वाचको भवति।"

Corrupt forms become current, and thus enter into convention and usage, because of the untrained and ignorant speakers. When a doubt arises in case of a corrupt or a correct word, a comparative study of both of them will be of much help to resolve. The correct word is, then, taken as the subject of perception, while the corrupt one remains the object of inference. But, once the incorrect word becomes set in a particular meaning, then even the correct word stops to convey that particular meaning, anymore.

"इस प्रकार साधु शब्दों द्वारा वहन किए जाने योग्य अर्थ को वहन करने वाले अपभ्रंश शब्द गुणहीन वक्ता लोगो के बीच जिन अर्थों में अत्यधिक प्रचलित हो जाते है, उनकी भाषा मे या उनके लिए उन अर्थो का कथन उन प्रकृतिभूत साधु शब्दों द्वारा तब वहन नही होता। अर्थात्, तब उन अर्थो में साधु-प्रयोग निरर्थक हो जाता है। क्योंकि परम्परा के द्वारा तब उन अर्थों मे अपभ्रंश शब्द ही रूढ़ हो चुका होता है।"

दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः।
अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्ययः॥१५५॥

वाचः संकीर्णतां प्रति द्विविधां मतिं मतं च प्रदर्शयति : "इयं व्याकरणस्मृतिज्ञान्या संकीर्णा च दैवी वाग् अनभ्यासाज्ञानादिभिरशक्तैरभिधातृभिरपभ्रंशशब्दप्रयोगबाहुल्येन व्यामिश्रा संकीर्णा वा कृता। अनित्यदर्शिनस्तु साधुशब्दाननित्यत्वेन स्वीकुर्वते। इत्थं तेषामस्ति बुद्धिविपर्ययो स्मिन् विषये। ते पुनः अपभ्रंशान् प्रकृतिरूपेण, साधुशब्दांश्च तेभ्यः संस्कृतानेव मन्यन्ते। ते च प्रकृतौ भवं प्राकृतं साधूनां शब्दानां समूहमाचक्षते। विकारस्तु तैः पश्चाद् व्यवस्थाप्यते, यः संभिन्नबुद्धिभिः पुरुषैः स्वरसंस्कारादिभिर्निर्णीयते।"

This Divine Speech has been mixed with the corrupt forms by the incapable and ignorant speakers. Those, who accept, the words as transitory, also think about the correct words in the same light. Thus, their thinking in this regard is quite opposed to the fact. They think the incorrect words are the originals and the correct ones are reformed from the former. According to them, the Originals are those which take their birth in the popular parlance, while Resultants are those which come into vogue a bit later, or after a sort of correction.

"व्याकरण की स्मृति के अनुकूल उक्त 'दैवी वाक्' अभ्यासहीन और अज्ञानादि से अशक्त वक्ताओं द्वारा अपभ्रंश शब्दों के व्यामिश्रण के कारण व्यतिकीर्ण या संकीर्ण कर दी गई है। अर्थात् शुद्ध और साधु प्रयोगों के साथ इसमें बहुत से असाधु प्रयोग भी चलने लगे हैं। किन्तु अनित्यवादी इसे दूसरी ही दृष्टि से देखते है। उनकी दृष्टि में प्रकृति (प्रजा) से आगत 'प्राकृत' है। स्वरसंस्कारादि से युक्त उनके लिए 'संस्कृत' है। अतः वे अपभ्रंश या असाधु को ही वाक् का मूल शब्द मानते हैं। संस्कृत उनकी दृष्टि में विकार मात्र है।"

टिप्पणी:— ये दोनों मत भाषा के विषय में आजकल के विवाद के दोनों पक्षों को किस पूर्णता के साथ प्रतिबिम्बित करते हैं!

उभयेषामविच्छेदाद् अन्यशब्दविवक्षया।
योऽन्यः प्रयुज्यते शब्दो न सोऽर्थस्याभिधायकः ॥१५६॥

"येषामपि च मते न पुराकल्पो न च दैवी वागसंकीर्णा आसीत्, तेषामपि मते गम्यागम्यादिव्यवस्थावदियं साध्वसाधुव्यवस्था नित्यमविच्छेदेन शिष्टैः स्मर्यते। तत्र गोशब्दविवक्षया बालप्रलापवत् सास्नादिमत्यर्थे योऽन्यः प्रयुज्यमानो गाव्यादिर्लोके निरूढः, यश्चाश्व शब्दविवक्षया तुरगार्थे प्रयुज्यमानोऽस्वशब्दो लोके न तदर्थे रूढः, तावुभावप्यर्थस्य वाचकौ न भवतः। तत्र तु साधुव्यवहिता वा प्रतिपत्तिरर्थस्य भवति, अभ्यासाद् वा प्रमत्तानामक्षिनिकोचादिवत् सम्प्रत्ययमात्रं जायते।"

Both, the correct and the corrupt forms, are handed down to us uninterruptedly. Still, when intending to use one (*i.e.* Correct) the speaker uses the other (*i e.* incorrect), it is not the latter which can be supposed as expressive of the meaning. It is either due to their identity with the former ones, or due to their customary usage, that they are supposed to have conveyed their meanings. Even the winking of the eyes conveys a particular sense or meaning. But, this type of meaning can never be called as Expressive.

"पुराकल्प और दैवी वाक् की असंकीर्णता में विश्वास करने वालों और ऐसा विश्वास न रखने वालों—दोनों— की दृष्टि में शब्द की साधु-असाधु-व्यवस्था नित्य और अविच्छिन्न है। तब 'गौ' के स्थान पर बालप्रलाप की भांति 'गावी' आदि अशुद्ध शब्दों का रूढ़ प्रयोग, और 'अश्व' की जगह घोड़े के अर्थ में 'अस्व' का रूढ़िहीन प्रयोग, दोनों ही अपने-अपने अर्थ के वाचक नहीं बनते। उन दोनों से ही जो प्रतीति होती है, वह उनकी अपनी न होकर साधु शब्द से होने वाली प्रतीति ही होती है। यह प्रतीति वाचकता के कारण न होकर अनुमान के कारण होती है। जैसे प्रमत्त लोग अक्षिनिकोच आदि से अपने अर्थ को स्पष्ट करते है, और केवल अनुमान पर उसे शिष्ट लोग समझ लेते हैं, उसी तरह अपभ्रंश शब्दों का अर्थ भी अनुमान के बल पर ही समझा जाता है।"

●

परिशिष्ट (१)

श्लोकानुक्रमणी

परिशिष्ट (२-अ)

MAXIMS OF BHARTṚHARI IN VĀKYAPADĪYA'S FIRST CANTO

Note—Numbers of verses are given in the brackets.

1. Immortal Speech-element is the source of all the world-behaviour. (1)
2. It is one and indivisible. But, still, supposed to be divided because of its own different powers and agencies. (2)
3. All the steps in a process depend on the time-factor involved. (3)
4. Veda is one, divided into several, according to the convenience. (5)
5. Smṛtis are dependent for their existent on this very Veda. (7)
6. The same statement may have many meanings, according to the recipient's approach. (8)
7. If grammar is commanded, then all the knowledge is commanded. (9)
8. All the branches of knowledge tend to rectify and modify one's understanding. (10)
9. Grammar is the first step of all the knowledge. (11)
10. Grammar is a darkened path to attain the aim of brightest light. (12, 18)
11. Meaning is retained in the words, while the words themselves are retained in the grammar. (13)
12. Grammar is the light, which is illuminated through the different branches of knowledge. (14, 15).
13. Grammar is the only instrument to remove all doubts. (17)
14. Speech-element can be known fully only with the help of Grammar. (22)
15. Word, meaning, and their mutual relationship—is

eternal. (23-26)

16. Correct and Corrupt words relay the meanings alike, but the former is supposed to be meritorious, while the latter is thought to be otherwise. (27)
17. Whether the words are eternal or formed, no definite 'origin' can be fixed. (28)
18. Looking at their eternal arrangement, Grammar is compiled as based on that tradition. (29)
19. Whichsoever thing becomes popular, nothing can unseat it anyway. (31)
20. In a particular situation, even the most famous associations are belied. (33)
21. Mere conjecture does not play an important role in ascertaining a particular meaning. (34)
22. Only the Practice makes anything perfect. (35)
23. Conjecture has no value for either the perverse people or the specialised ones. (36-38)
24. Direct knowledge is the supreme in all respects. (39)
25. For the knowledge of Good and Bad, even the most ignorant people need no help from Scriptures. (40)
26. Agamas cannot be contradicted by any reasoning. (41)
27. Mere conjecture leads to a fall. (42)
28. Grammar is based on the natural laws as well as on the well founded traditions. (43)
29. There are two kinds of words: Root-words and Formed words. (44)
30. A word, retained in mind, gives birth to the different appearances. (46)
31. It is the external form of the mentally retained word, which takes recourse to the sounds. (47)
32. If there appears to be any order in a word, it relates to the sounds; as the word is an orderless whole. (48)
33. The relationship in between Sphoṭa and Nāda is that of a Reflection, and Reflector (49)
34. Every thing is composed of two aspects : Subjective & Objective. (50)
35. The word in itself is like an egg, while its sense or intent is hidden in it and appears only step by step. (51)
36. Word or Speech is the only medium in between the minds of the Speaker and Listener. (53)

37. Some of the senses in a word remain hidden, at least for an ordinary listener. (54)
38. Words have separate powers as a Conveyer and as Conveyed. (55)
39. Unless it is associated with a particular sense, no word can express any meaning because of its more existence. (56)
40. The Form and the Meaning, though inseparable, are taken as distinct, just for the sake of convenience. (58)
41. Nouns and Proper Nouns have a formal value as well, along with their verbal or popular meaning. (59-60)
42. Merely the pronunciation does not testify that the word has achieved its purpose. Its power of indicating a different note can never be obstructed. (61)
43. Quality may become a Thing elsewhere, exhibiting then some other qualities. (62-65)
44. Proper Noun is Indicative as well as Possessive. (66-67)
45. Any Noun may be Proper as well as Common one. (68)
46. According to some, Phonemes, Words, and Sentences are essentially one. But, according to others, these ore separate from each other. (70-74)
47. Sphoṭa is simultaneous, indivisible, and has no time-factor involved. (75-76)
48. Sounds may be said to be of two kinds : Source sounds & Resultant sounds. (77)
49. The effect of these different sounds is supposed to be in these different ways : on Words, on Organs of Articulation, and on Both. (78)
50. Light has two-fold effect : illuminating the object & strengthening of the eyesight. (80)
51. Reception of Sounds is supposed to be in either of the three ways : as Sphoṭa, as incognisable and as an independent agent. (81)
52. Repetition makes any intelligible thing as tolerable or understandable. (82)
53. Only with the help of some signs we recognise a word in its proper form. (83)
54. A word is retained in the mind with the repetitions and pronouncements, its seeds being already there. (84)
55. There are nothing like components in a statement. It is only due to recipients inability, that such hypotheses crop

up. (85-92)

56. Spontaneous reception of Sphoṭa is a type of community, while sounds, phonemes or reverberations may be accepted as its individuals. (93)
57. Reverberating sounds, though protracted themselves, become instrument in getting the undeformed word. (94)
58. Sounds or words do not differ due to the difference in place or time. (96)
59. Sphoṭa and Nāda are related as Illuminated and illuminator, respectively. (97)
60. The same quality varies in expression due to a variety of things. (98)
61. It is due only to the sonic presentation that we divide the time of word' and the 'time of reception' in an otherwise undivided word. (101)
62. Sphoṭa is spontaneous and simultaneous, though the reverberations in the process of understanding may spread to an indefinite time. (103)
63. There are three theories regarding the genesis of the word: it is the product of the Air, product of Atoms, or that of Knowledge. (107)
64. Word or Speech is the binding element of the world. (118)
65. All kinds of meaning reside in the word-element only. (119)
66. All this is caused or evolved from the Words. (120)
67. Even a child knows that all the world-behaviour depends on the Words. (121)
68. Without word-sense no attempt at speech becomes possible. (122)
69. All the knowledge is illuminated only with the words. (123)
70. There can be no cognition without the words. (124)
71. Speech is the binding element of all the Arts, Sciences, and other branches of knowledge (125)
72. Speech represents the consciousness of the world. (126-128)
73. Even the not-existant or hypothetical things can be denoted by the words. (130)
74. The meaning of the sentence is never retained in its formal appearance only. (136)
75. Mere formal appearance may lead to confusion; as there might be the words with undesired meaning, hidden meaning, or inferred meaning. (137)

76. Individual words, like mantras, might possess certain individual powers. (139)
77. Every thesis may have an antithesis as well. (141)
78. Cultured people think grammar as a written tradition of the correctness of the speech. (142)
79. Even at the thinking stage grammar has its effect manifested. (143)
80. Grammar may be of two kinds : Analytical or Syntactical. (144)
81. Grammar corrects the defects in the speech. (148)
82. Corrupt words may become Correct ones in a different meaning and by gaining popular currency. But they are never synonyms of the correct ones. (148-151)
83. Meaning of Corrupt words is known only with the help of their identity with the Correct ones. (152)
84. The controversy exists there regarding the originality of Correct or Corrupt words. But the fact is that both are essential and eternal. (153-156)

परिशिष्ट (२-आ)

प्रथम काण्ड के सूत्र

१. कालसीमाहीन शब्दतत्त्व या शब्दब्रह्म ही जागतिक व्यवहार का मूल उत्स है।

२. वह ब्रह्म एक और अविभाज्य होकर भी विविध शक्तियों के कारण बंटा-सा दीखता है।

३. सत्ता के जन्मादि छह चरण उसी शब्दब्रह्म की कलाभूत कालशक्ति के आश्रित रहते हैं।

४. उसका प्राप्त्युपाय वेद एक होकर भी सुविधानुसार विभाज्य माना गया है।

५. स्मृतियों का विभाजन वेद पर ही आश्रित है।

६. ग्रहीता के बुद्धिभेद के कारण एक ही बात को विविध रूपमें समझा जा सकता है।

७. व्याकरण की साधना से ही सब कुछ सध जाता है।

८. सभी विद्याभेद ज्ञान का संस्कार करते हैं।

९. परम ज्योति की उपलब्धि के लिए व्याकरण के अन्धकारपूर्ण पथ को पार करना ज़रूरी है।

१०. ज्ञानोपलब्धि का प्रथम सोपान व्याकरण ही है।

११. अर्थग्रहण शब्दों के द्वारा होता है। और, शब्दों का ग्रहण या धारण व्याकरण के द्वारा होता है।

१२. विद्या के विविध अंगों में 'व्याकरण' ही सर्वत्र आभासित होता है।

१३. सभी संशयों के अपाकरण में व्याकरण ही एकमात्र साधन है।

१४. शब्दब्रह्म की चरमोपलब्धि व्याकरण के माध्यम से ही होती है।

१५. शब्द, अर्थ और शब्दार्थसम्बन्ध नित्य हैं।

१६. अर्थ के प्रत्यायक होने पर भी साधु शब्द ही धर्म के साधन माने जाते हैं, असाधु नहीं।

१७. साधु और असाधु शब्द नित्य हैं या कृतक, यह बात स्थिरता से नहीं कही जा सकती।

१८. पर उनकी व्यवस्था नित्य है, यह बात देखकर ही शिष्ट लोग व्याकरण-स्मृति बांधते हैं।
१९. लोक-प्रसिद्धि पा लेने पर कोई भी वस्तु असिद्ध नहीं हो सकती।
२०. किसी विशेष स्थिति में प्रसिद्धतम सम्बन्ध भी झूठे पड़ जाते हैं।
२१. अर्थ के विनिश्चय में अनुमानमात्र काम नहीं करता।
२२. अभ्यास ही पूर्णता और परिपक्वता का कारण होता है।
२३. शिष्ट और अशिष्ट के लिए अनुमान का समान रूपसे कोई प्रयोजन नहीं।
२४. प्रत्यक्ष ज्ञान सभी दृष्टियों से सर्वोत्कृष्ट है।
२५. पाप और पुण्य के ज्ञान के लिए अशिक्षित से अशिक्षित मनुष्य भी ज्ञान पर निर्भर नहीं रहता।
२६. आगम को कोई भी तर्क बाधित नहीं कर सकता।
२७. केवल अनुमान का आश्रय पतनकारी ही होता है।
२८. व्याकरण का आधार अकृतक 'श्रुति' और सुनिबद्ध 'स्मृति' पर आधारित रहता है।
२९. शब्द दो प्रकार के हैं : निमित्तभूत और कार्य-प्रयुक्त।
३०. एक भी बुद्धिस्थ शब्द अनेक श्रुतियों या आकृतियों को जन्म दे सकता है।
३१. बुद्धिस्थ शब्द का बाह्यरूप ही ध्वनियों के द्वारा व्यक्त होता है।
३२. अक्रम शब्द में क्रम केवल इन्हीं व्यंजक ध्वनियों का होता है।
३३. स्फोट और नाद का सम्बन्ध व्यंग्य और व्यंजक का है।
३४. प्रत्येक वस्तु के दो पार्श्व होते हैं : आत्मरूप और ज्ञेयरूप। शब्द में ये ही 'स्वरूप' और 'अर्थ' कहलाते हैं।
३५. शब्द हिरण्यगर्भ अण्ड के समान है। इसकी वृत्ति क्रिया के रूपमें क्रमवती होकर व्यक्त होती है।
३६. शब्द प्रयोक्ता और ग्रहीता के बीच आदान-प्रदान का एकमात्र माध्यम है।
३७. शब्द में बहुत से अर्थ चरितार्थ ही रहते हैं, जिन्हें सामान्य श्रोता नहीं समझ पाते।
३८. शब्दों में ग्राह्य और ग्राहक के रूपमें दो शक्तियां होती हैं।
३९. किसी प्रयोग भावना के बिना कोई शब्द केवल सत्तामात्र के कारण ही अर्थ को व्यक्त नहीं करता।
४०. शब्द के स्वरूप और अर्थ-रूप को केवल सुविधाहेतु ही पृथक्-पृथक् माना जाता है।
४१. संज्ञाओं की अर्थवत्ता के अतिरिक्त स्वरूप में भी स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है।
४२. उच्चारण से ही प्रयोजन की पूर्णता सिद्ध नहीं होती। न ही वह किसी अन्य प्रत्यय को देने में असमर्थ ही हो जाता है।

४३. एकत्र 'गुण' अन्यत्र 'द्रव्य' बन सकता है, जिसमें तब अन्य 'गुण' ढूंढे जा सकते हैं।

४४. संज्ञा प्रथमा और षष्ठी के अर्थों को सूचित करती है।

४५. संज्ञा का व्यक्तिरूप जातिरूप से अभिन्न होकर रहता है।

४६. नित्य और कार्य की दृष्टि से कुछ लोग वर्ण, पद और वाक्य को 'एक' मानते हैं, कुछ 'अनेक'।

४७. 'प्राकृत ध्वनि' (मूल) और 'वैकृत ध्वनि' के भेद से ध्वनि दो प्रकार की मानी जाती है।

४८. स्फोट अभिन्नकाल, ध्वनिकालानुपाती और अखण्ड है।

४९. ध्वनि-प्रभाव तीन रूपमें स्पष्ट होता है : इन्द्रिय पर, शब्द (विषय) पर, अथवा दोनों पर।

५०. तेजस् का दोहरा प्रभाव होता है : विषय-संस्कार और इन्द्रिय-संस्कार के रूप में।

५१. 'ध्वनि' का ग्रहण तीन रूपमें माना जाता है : स्फोटाभिन्न रूपमें, असंवेद्य रूपमें, और स्वतन्त्र रूपमें।

५२. 'आवृत्ति' से अग्राह्य या दुर्ग्राह्य वस्तु भी सुग्राह्य हो जाती है।

५३. किन्हीं प्रत्ययों के द्वारा ही ध्वनिप्रकाशित शब्द में स्वरूप स्थिर रहता है।

५४. शब्द के बीज बुद्धि में पहले से ही होते हैं। आवृत्ति और उच्चारण इसे स्वरूप में स्थित करते हैं।

५५. स्फोट को 'जाति' कहा जा सकता है, जबकि वर्ण, पद, वाक्य उसी की 'व्यक्तियां' होती हैं।

५६. देश और काल के भेद से ध्वनि या शब्द भिन्न नहीं हो जाते।

५७. स्फोट और नाद का सम्बन्ध परस्पर व्यंग्य और व्यंजक का है।

५८. निमित्त भेद से वही गुण या तन्मात्रा प्रत्येक द्रव्य में भिन्न रूपमें स्थित रहती है।

५९. केवल ध्वनिरूपके कारण ही 'ध्वनिकाल' (शब्दकाल) और 'वृत्तिकाल' जैसे भेद किए जाते हैं।

६०. शब्द की दीर्घता भिन्न होने पर भी स्फोटकाल अभिन्न ही रहता है। उसका वृत्ति-विस्तार अवश्य देर तक चलता रहता है।

६१. शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन मूल बताए जाते हैं : वायु, अणु (परमाणु) और ज्ञान।

६२. शब्द विश्व के निबन्धन हैं।

६३. सब प्रकार के अर्थ शब्दों पर ही आश्रित रहते हैं।

६४. यह समस्त विश्व शब्द का ही परिणाम या विवर्त्त है।

६५. बालक भी जानता है कि विश्व का समस्त व्यवहार 'शब्द' पर ही आश्रित है।

६६. शब्दभावना के विना उच्चारणादि कोई भी प्रयत्न सम्भव नहीं।

६७. सारा ज्ञान केवल शब्द से ही आभासित होता है।

६८. वाक् का रूप ग्रहण किए बिना कोई भी अवबोध नहीं हो सकता।

६९. सभी विद्याओं, शिल्पों और कलाओं का निबन्धन वाक् के माध्यम से ही होता है।

७०. यह वाक् ही समस्त संसार की सर्वव्यापी चेतना है।

७१. निराधार और अनस्तित्व वाली वस्तुएं या कल्पनाएं भी शब्द द्वारा ही स्थित होती हैं।

७२. वाक्य के रूपमात्र से ही वाक्यार्थ की उपलब्धि नहीं हो जाती।

७३. रूप पर विश्वास भ्रामक है। क्योंकि संभव है (i) शब्द होने पर अर्थ अभिप्रेत न हो, (ii) स्पष्ट अर्थ की अपेक्षा कदाचित् कोई परार्थ अभिधेय हो, एवं (iii) अर्थ की अभिव्यक्ति शब्दार्थ के रूपमें न होकर लिंग या लक्षण के रूपमें हो।

७४. मन्त्रों की भांति एकाकी शब्द भी अपनी-अपनी निश्चित शक्तियों से युक्त होते हैं।

७५. किसी भी पक्ष का विपरीत विपक्ष भी होता ही है।

७६. शिष्ट व्यक्ति व्याकरण को साधुत्व ज्ञान सम्बन्धी लिपिबद्ध स्मृति मानते हैं।

७७. 'पश्यन्ती' की विचारावस्था से ही व्याकरण का कार्य आरम्भ हो जाता है। इसलिए व्याकरण में वाणी के तीन पदों की ही चर्चा अभीष्ट होती है।

७८. व्याकरण दो प्रकार के होते हैं : विभाग-प्रधान और अविभाग-प्रधान।

७९. वाणी के दोषों की चिकित्सा व्याकरण के द्वारा होती है।

८०. लोकप्रसिद्धि का आश्रय पाकर या किसी विशिष्टार्थ में स्थिर होकर अपभ्रंश शब्द भी साधु बन जाते हैं। परन्तु उन्हें उनके मूलवत् प्रतीत होने वाले साधु शब्दों का पर्याय नहीं माना जा सकता।

८१. अपभ्रंश शब्दों का अर्थज्ञान उनके मूल साधु शब्दों के परिज्ञान से ही पता चलता है।

८२. विवादों के रहते भी यह सत्य है कि साधु और अपभ्रंश—दोनों—ही शब्द अनिवार्यतः और नित्य प्रचलित रहते हैं।

परिशिष्ट (३)

विशिष्ट प्रश्न

(क) शब्दब्रह्म

सूचना :—इसके विशेष विवरण के लिए लेखक के 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' के षष्ठ अध्याय में पृ० १०६ से ११६ तक पढ़ें।

स्मर्त्तव्य :—इस काण्ड के इन श्लोकों का विशेष ध्यान रखें : १ से ११, १६ से २२, ११८ से १२८, एवं १३१-१३२।

(ख) व्याकरण

[स्मर्त्तव्य —इस काण्ड के श्लोक ११ से १८, ३० से ४३, और १४२ से १४७ तक।

सूचना :—इस विषय में संक्षिप्त टिप्पणी लेखक के 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' में देखें—पृष्ठ ३३ से ३७ तक।]

व्याकरण का महत्त्व और प्रयोजन :

इस सम्बन्ध में भर्तृहरि के निम्न वक्तव्य अवधेय हैं :—

१. शब्दब्रह्म की उपलब्धि का सर्वोत्कृष्ट साधन 'व्याकरण' है। क्योंकि यह उसके सर्वाधिक निकट है, और उसका रहस्यवेत्ता है।
—किसी भी अन्य साधना की अपेक्षा यह अधिक उत्कृष्ट साधना है।
—वेद और ज्ञान का प्रथम और प्रधानतम अंग है। छह वेदांगों में मुख्यतम है।
(श्लोक सं० ११)

२. रूपात्मक दृष्टि से वाक् विभक्त दिखाई देती है, किन्तु उसका परम रस या आस्वाद और उसकी पुण्यतम ज्योति या चमत्कार व्याकरण के इस अन्धकारपूर्ण मार्ग के द्वारा ही उपलब्ध होता है। अन्धकारपूर्ण इसलिए, कि अखण्ड वाक् का खण्डशः अध्ययन ही इसमें अपेक्षित होत। है।
(श्लोक १२, १८)।

३. लोक-व्यवहार अर्थ पर आश्रित है। अर्थतत्त्व शब्दतत्त्व पर आश्रित है।

इस शब्दतत्त्व या शब्दरचना का ज्ञान केवल व्याकरण के माध्यम से ही हो सकता है। (१३)।

४. वाणी के दोषों का परिहार इसीसे होता है। सब विद्याओं का रहस्य शब्दाश्रित होने से इसी की सहायता से खुलता है। और इस प्रकार, धर्म, अर्थ और काम के रहस्य को जानकर मोक्ष अर्थात् निर्बन्धता का भाव इसी व्याकरण के माध्यम से जागता है। (१४)।
५. जिस प्रकार सभी प्रकार के अर्थ शब्दाकृति पर आश्रित होते हैं, उसी प्रकार सभी विद्याएं स्वरूपज्ञान के लिए शब्दब्रह्म के उद्घाटक व्याकरण पर आश्रित रहती हैं। (१५)
६. हर प्रकार की सफलता को पाने के प्रयत्नों मे सर्वप्रथम और प्रधान यत्न यही है। इसके साधते ही सभी सफलताएं (मोक्ष समेत) स्वयं उपलब्ध हो जाती है। (६ और १६)।
७. इसकी सहायता से ही वेद के परम रहस्य को पाया जा सकता है। (१७)।
८. शब्दब्रह्म की चरम उपलब्धि व्याकरण की सहायता से पूर्णतया हो जाती है।

व्याकरणरचना के हेतु और आधार :

व्याकरण रचना के दो आधार है : **आगम** (श्रुति) और **स्मृति** (४३, १४५)। **आगम** अकृतक, अपौरुषेय या स्वाभाविक ज्ञान है। यह ज्ञान भी प्रत्यक्षवत् ही होता है। ऋषियोंका ज्ञान इसी पर आधारित होता है। उसमें अनुमान की आवश्यकता नहीं होती। **स्मृति** का निर्माण शिष्ट लोग करते हैं। वह सनिबन्धन होती है। अर्थात् उदाहरण-प्रत्युदाहरण-वाक्याध्याहार-आदि के द्वारा परम्परा को पहचान कर उसका निबन्धन किया जाता है। व्याकरण का आधार इन दोनों पर ही होता है।

स्वयं व्याकरण एक शास्त्र है। शास्त्र का प्रयोजन इसमें रत्ती भर भी नहीं है कि भाषा सिखाई जाए। भाषा स्वाभाविक ज्ञान की भांति सीखने से ही आती है। हां, उसके रूप में शब्दों का अन्वाख्यान इसलिए अवश्य जरूरी है कि लोग केवल अनुमान के बलपर न बढ़ें। 'अनुमान' व्याकरण का विरोधी है। उस का आधार 'प्रत्यक्ष' पर है। जहां प्रत्यक्ष असफल होता है, वहां 'आगम' अर्थात् आप्तज्ञान से सहायता ली जाती है। लोकप्रसिद्धि को सत्य मानना भी व्याकरण के लिए आवश्यक है। लोकप्रसिद्धि की दृष्टि से सामान्य से सामान्य और अशिक्षिततम जन का भी समान महत्त्व है। लोक प्रसिद्धि और आप्त आगम तर्क आदि से परे की वस्तु है। (श्लोक सं० ३० से ४३ तक)।

शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व का निर्णय व्याकरण-ज्ञान पर निर्भर है। शिष्ट लोग इसी रूप में अविच्छिन्न परम्परा को निबद्ध करते हैं। यह स्वयं स्मृति-शास्त्र है। (१४२)।

क्षेत्र—आलंकारिक और शास्त्रीय जन वाणी के चार पदों को स्वीकार करते हैं। परन्तु व्याकरण मे केवल तीन पदों की ही सत्ता मानी जाती है। भर्तृहरि इसका कारण यह बताते हैं कि वाक्-व्यापार की विभागात्मक और विवेचनात्मक प्रक्रिया का आरम्भ **पश्यन्ती** अवस्था से होता है। संयोगविभाग की व्याकरणात्मक प्रक्रिया वहीं से आरम्भ होती है। परन्तु, उसका कार्य वहीं पूरा नहीं हो जाता। वाणी के उच्चारण के बाद ही वास्तविक शुद्धि-अशुद्धि का निर्णय हो सकता है। अन्यों के लिए विचार का अवसर **वैखरी** के आविर्भाव पर ही आता है। परन्तु **मध्यमा** प्रयत्न की वह अवस्था है, जिसमें उच्चारण हो रहा होता है। उच्चारणजन्य या स्खलनजन्य दोषों का समावेश इसी अवस्था मे होता है। इसीलिए यह अवस्था भी व्याकरण के क्षेत्र के अन्तर्गत ही ठहरती है। परन्तु यदि 'परा' की अवस्था स्वीकार भी कर ली जाए, तब भी व्याकरण की दृष्टि से उसका महत्त्व नहीं है। यूं तो 'इच्छा' या 'वक्तुरिछा' को महत्त्व देकर भर्तृहरि उसकी सत्ता-सम्भावना से इन्कार नहीं करते। किन्तु, उनका यह कथन अविरुद्ध है कि व्याकरण की पहुँच, उस क्षेत्र में न होकर, उसके अतिरिक्त तीनों चरणों तक ही सीमित है। तभी व्याकरण को वे वाणी के 'परम पद' के रूप में स्वीकार करते है। (१४३)।

व्याकरण के दो रूप :

व्याकरण दो रूप में या दो प्रकार से रह सकता है: **सविभाग** और **अविभाग**। प्रथम में हम पाणिनीय व्याकरण को ग्रहण कर सकते हैं, जिसकी परम्परा का अन्धानुकरण परवर्त्ती काल में हुआ। इस परम्परा के चलन के बाद दूसरी प्रक्रिया का प्रायः अभाव हो गया है। परन्तु, उसका निदर्शन अवश्य मिलता है। निघण्टु प्रक्रिया के अतिरिक्त स्वयं पाणिनीय व्याकरण में भी अनेकत्र अविभाग प्रक्रिया को अपनाया गया है। निपातन, उणादि और बहुल के निर्देश द्वारा वास्तव में विभाजन-प्रक्रिया की सार्वत्रिकता को ही असम्भव सिद्ध किया गया है। अनिवार्य नहीं है कि किसी भाषा के सभी शब्द एक ही मूल के हों। उनकी मूलगत भिन्नता को स्वीकार करने के बाद उनका विभाजन एक ही आधार पर करना भी असिद्ध ठहरता है। अतः अविभाग प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ता है। 'वैदिकपदानुक्रमणी' आदि इसी प्रकार के प्रयास हैं।

इस प्रकार व्याकरण का एक रूप वह है जिसमें प्रकृति-प्रत्ययादि के विभाजन की बहुलता रहती है, जबकि उसके दूसरे रूप में प्रकृति-प्रत्ययादि का

विभाजन प्रधान न होकर, वर्गीकरण और भाषा-प्रकृति के विवेचन की प्रधानता रहती है। (श्लोक १४४)।

ज्ञान का सही रूप अखण्ड है। जैसे स्वप्नगत ज्ञान बिना शब्दों में बटे अविभक्त रूप में ही स्पष्ट होता है। किन्तु जिस प्रकार वह स्वप्नगत ज्ञान ही लिंगों के द्वारा, वास्तविक भाव या वस्तु के अभाव में भी, बांटा जाकर ग्राह्य बनता है, उसी प्रकार अखण्ड वृत्ति का ज्ञान भी वाक् रूप में अवतरित होने के बाद व्याकरण के विभागों में बंटकर या उसके लक्षणों की परिभाषा से जाना जाकर ग्राह्य बन पाता है। ऐसे व्याकरण का निर्माण शब्दतत्त्व या वस्तुतत्त्व की परम उपलब्धि के बाद ही हो सकता है (१४६)।

शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता

[स्मर्त्तव्य—प्रथम काण्ड के श्लोक २३ से २६ तक।
सूचना—देखें 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय', बारह अध्याय, पृष्ठ १७२ से १८७।]

यह चर्चा पतंजलि और भर्तृहरि ने महाभाष्य और त्रिपदी में 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' में विस्तार से की है। यहां भर्तृहरि 'सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च' को सही मानकर चल रहे हैं। वे शब्दार्थ और सम्बन्ध—तीनों को नित्य मानकर चले हैं। उनकी दृष्टि मे यह नित्य व्यवस्था है (श्लोक २३)। यह मत उनके समय तक अत्यन्त सम्पुष्ट हो चुका था।

अर्थ : द्विविध—अर्थ दो प्रकार के है : **अपोद्धार** के रूप में स्थित, और **स्थितलक्षण**। अपोद्धारपदार्थ को हम यौगिक अर्थों के रूप में कह सकते हैं। इन अर्थों को हम शब्द के प्रकृति-प्रत्ययादि के अर्थविभाग द्वारा जानने में समर्थ होते हैं। श्लेष, समास, आदि के अर्थ भी इसी कोटि में आते हैं। स्थित-लक्षण को हम 'रूढ़ि' भी कह सकते हैं। रूढ़ार्थ में प्रकृति-प्रत्ययादिविभाग की वह बात नहीं रहती। 'येनोच्चारितेनेह' के द्वारा पतंजलि और 'यस्मिंस्तूच्चरिते' (वा० २.३३०) के द्वारा भर्तृहरि इसी स्थितिलक्षण अर्थ की पुष्टि करते हैं।

शब्द : द्विविध—अन्वाख्येय और प्रतिपादक। अन्वाख्येय शब्द वे हैं, जिनका निर्माण व्याकरण के नियमानुकूल विशेष प्रयोजन की दृष्टि से किया जाता है। अर्थात्, प्रकृति-प्रत्ययादि के विनिश्चित योग के द्वारा निर्माण होकर किसी पूर्व-स्थित अर्थ या द्रव्य के लिए उनका प्रयोग होता है। किन्तु, **प्रतिपादक** शब्द वे हैं, जो परम्परा में रूढ़ होकर किसी विशेष द्रव्य या क्रिया की ओर इंगित करते हैं। उनमें किसी यौगिक अर्थभिव्यक्ति की बात प्रधान नहीं रहती। उनके अर्थविनिश्चय का मुख्य आधार होता है, लोकप्रसिद्धि के रूप में। वे अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, अन्वाख्यान नहीं।

सम्बन्ध भावना : दो प्रकार—सम्बन्ध कई प्रकार के हो सकते हैं। शब्द

और अर्थ के कुछ सम्बन्ध वाच्य-वाचक, लक्ष्य-लक्षक, व्यंग्य-व्यंजक, आदि रूपों में स्वीकार किए गए हैं। परन्तु इन सबके आधार में दो ही भावनाएं खोजी जा सकती हैं। इनमें कुछ सम्बन्ध परस्पर कार्यकारणभाव से स्थित होते हैं। अर्थात्, कुछ जगह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कार्य और कारण के ज्ञान के द्वारा तय होता है। दूसरी जगह, यथा वाच्य-वाचकादि में, यह सम्बन्ध योग्यता के रूप में रहता है। जिस प्रकार माता-पुत्र का सम्बन्ध एक-दूसरे के साथ होने से ही सिद्ध होता है, तथा उसे किसी अन्य युक्ति या तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसी तरह किसी शब्द का जो अर्थ स्वभावत: उससे सम्बद्ध समझा जाए, उसे योग्यताजन्य कहेंगे। कार्य-कारणभाव में वे सम्बन्ध आते हैं, जिन्हें हम बाधा, लक्षण, आदि तथाकथित या अन्य किन्हीं कारणों से आता पाते हैं।

ये सम्बन्ध के रूप में या प्रत्यय के रूप में अपनी प्रतीति देते हैं। अर्थात् या तो शब्द-धर्म के रूप में रहते हैं, या फिर प्रत्यय के द्वारा इनकी उपस्थिति का विनिश्चय होता है।

सम्बन्ध की विद्यमानता और सत्ता साधु और असाधु शब्दों के लिए एक समान होती है।

व्याकरण में वर्णन—व्याकरण में इन सबका वर्णन पूरी तरह करने से अत्यन्त विस्तार हो जायगा। अतः नित्य होने पर भी कुछ प्रतिनिधि समस्याओं का ही वर्णन व्याकरणशास्त्र में किया जा सकता है। ये समस्याएं शब्द, अर्थ और सम्बन्ध सभी से सम्बद्ध है (२३-२६)।

(घ) साधु और असाधु शब्द

(स्मर्त्तव्य—श्लोक सं० २७-२६, १३४-१४१, १४८-१५६ तक।)

परिभाषा—भर्तृहरि आगम में प्रयुक्त और शिष्टों द्वारा व्यवहृत शब्दों को ही 'साधु' मानते हैं। उनकी मान्यता है कि साधु और असाधु शब्द समान रूप से अर्थ का प्रत्यय कराते हैं। किन्तु साधु शब्द शिष्ट परम्परा और आगम-परम्परा से पुष्ट होते हैं। परन्तु असाधु या अपभ्रंश शब्द ऐसी परम्पराओं से पुष्ट नहीं होते। आगम का प्रयोजन धर्मवृद्धि है। अत: साधु शब्दों को धर्म का साधन माना गया है, जबकि असाधु शब्दों को ऐसा नहीं माना गया। पतंजलि के मत में उन्हें अधर्म का भी साधन माना जा सकता है (वा० २७)।

नित्य-कार्य—व्याडि ने कहा था —'शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः'। भर्तृहरि स्वोपज्ञ टीका में (१.१४८) में इसका अर्थ करते हैं—'अपभ्रंश शब्दों की प्रकृति या मूल शब्द साधु शब्द होते हैं'। इसका अन्य अर्थ यह भी किया जा सकता है कि 'साधुशब्दों की प्रकृति मूलतः अपभ्रंश शब्द होते हैं' (१५५)। वाक्यपदीय

में भर्तृहरि इन दोनों के बीच का पथ अत्यन्त सावधानी से अपनाते हैं। उनकी दृष्टि में दोनों का प्रचलन लोक से ही होता है। जब शब्दों की मान्यता का एकमात्र आधार लोकप्रचलन है, तब यह कहना कि साधु शब्दों से अपभ्रंश बिगड़ते है, या अपभ्रंशों को सुधार कर साधु शब्दों का प्रचलन होता है, सब निरर्थक ठहरता है। सत्य यह है कि लोक की मान्यता दोनों को प्राप्त है। इसीलिए यह शंका भी व्यर्थ है, कि साधु शब्द बुद्धिस्थ होने से नित्य है, या असाधु या अपभ्रंश शब्द नित्य हैं? जिस तरह माता और पुत्र की अथवा पिता-पुत्र की व्यवस्था परस्पर-सापेक्ष है, और उन दोनों में से कौन पहले हुआ—यह कहना भ्रामक ठहरेगा, उसी प्रकार साधु-असाधु की व्यवस्था भी परस्पर-सापेक्ष है। इसीलिए उसे भी नित्य ही कहा जा सकता है। (१.२८)।

इस व्यवस्था को यदि हम चाहें भी तब भी व्याकरण या किसी अन्य ज्ञान की सहायता से अन्यथा सिद्ध नहीं कर सकते। अर्थात्, यह असम्भव है कि व्याकरण की सहायता से सभी अपभ्रंशों का प्रचलन बन्द किया जा सके। कितना भी करें, अपभ्रंश और साधु शब्दों का समान्तर प्रचलन समान रूप से जारी रहेगा ही। और, जब ऐसी स्थिति है, तब शिष्ट लोग दोनों का अध्ययन न करके, साधु शब्दों का अध्ययन केवल इसलिए करते है कि साधुत्व विषयक स्मृति या नियमावली को एकत्र स्मरण रखा जा सके, तथा साधु-असाधु की सीमा का ज्ञान सम्भव किया जा सके (१.२९)। साधु शब्दों के परिज्ञान से ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि इसके अतिरिक्त शब्दावली 'असाधु' है। इसीलिए व्याकरण का कार्य साधुत्वज्ञान ही माना गया है। यही लघुतम उपाय है शब्दज्ञान का (१.१४२)।

अर्थ रूढ़ि—'गौ' आदि साधु शब्दों के स्थान पर जब परम्परानुसार स्वर-संस्कारादि से हीन किसी अन्य तत्सदृश शब्द—'गावी', 'गोणी' आदि—का प्रयोग होता है, तब उसे अपभ्रंश कहते हैं। किन्तु यहां यह स्मर्त्तव्य सत्य है कि ऐसे शब्द बहुधा अपना विशिष्ट अर्थ बना लेते हैं। अतः, उस अवस्था में, इन शब्दों का अर्थ मूल साधु शब्दों के अर्थ से भिन्न ही होता है। (१४८)।

यूं यह कहा जा सकता है कि 'अस्व', 'गोणी', आदि शब्द किसी अन्य दृष्टि से साधु भी है। जब कोई 'अस्व' का अर्थ 'धनहीन' करता है और इसे 'साधु' ठहराता है, तब यही स्थिति होती है। परन्तु यही शब्द अपभ्रंश तब होता है, जब हम इसे 'अश्व' के स्थान पर प्रयोग करें, और उसी अर्थ में स्थित करें। वहां ध्वनिदोषादि के कारण इसे असाधु या अपभ्रंश ही माना जाएगा। यही बात 'गोणी' आदि की है। गाय के अर्थ में 'गोणी' का प्रयोग असाधु है। किन्तु, किसी भिन्न और नए अर्थ में उसका प्रयोग उसे 'साधु' सिद्ध करता है। इस प्रकार भर्तृहरि इस स्थिर मत के हैं कि 'साधुत्व'-'असाधुत्व' का प्रश्न

निमत्तसापेक्ष है। अर्थात् यदि निमित्त वही है, तब व्याकरणसिद्ध शब्द 'साधु' है, और अन्य असाधु। किन्तु, यदि प्रयोग का निमित्त साधुशब्द के प्रयोग-निमित्त से भिन्न है, तब उसी शब्द को 'साधु' इसलिए कहा जा सकता है, क्योंकि अब उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का एक आधार है (१४९)।

ऐसे शब्दों का अर्थनिर्धारण, स्वभावतः, उस प्रक्रिया से नहीं हो सकता, जिससे 'साधु' शब्दों का होता है। अतः उनमें प्रकृति-प्रत्ययादि या लोकप्रसिद्धि की बात उस सीमा तक सही नहीं बैठती। परिणाम यह है कि उनके अर्थ-निर्धारण के लिए पहले उनके तथाकथित 'साधु' शब्द का अनुमान अत्यावश्यक हो जाता है। इस 'साधु' के अनुमान के द्वारा ही उनका अर्थविनिश्चय सम्भव हो पाता है। अतः प्रकृतिप्रत्ययविभाजन जैसी, या लोकप्रसिद्धि जैसी, किसी प्रक्रिया या 'प्रत्यक्ष' का आश्रय न लेकर, तथाकथित अपभ्रंश शब्दों के अर्थ-निर्धारण में हमें 'अनुमान' का आश्रय लेना पड़ता है। यह बात भी उन्हें 'साधु' शब्दों से भिन्न सिद्ध करती है (१५०)।

पर्याय हैं या नहीं?—इस पर भी शिष्टपरम्परा उन्हें साधुओं का पर्याय नहीं मानती। कारण यह है कि शिष्ट लोग परम्परा और स्मृति का अवलम्वन लेकर व्याकरण के द्वारा जिस जांच में प्रवृत्त होते हैं, उसके अनुसार ये तथा-कथित अपभ्रंश शब्द 'साधु' नहीं बैठते। अर्थात्, प्रकृति-प्रत्यय आदि का सामान्यतः कल्पित विभाग इनमें पूरा उतरता नहीं दिखाई देता। लोकप्रसिद्धि की दृष्टि से भी ये पूरे नहीं उतरते। जिस प्रसिद्धि के आधार पर 'साधु' शब्द अपने इंगित द्रव्य के साक्षात् वाचक ठहरते हैं, वह प्रसिद्धि न होने पर 'अपभ्रंश' शब्द उसी द्रव्य के साक्षात् वाचक नहीं कहे जा सकते। वाच्य-वाचक सम्बन्ध उन शब्दों का अपने तथाकथित अर्थों से नहीं हो पाता (१५१)।

अर्थनिश्चय की प्रक्रिया—बालक को हम 'अम्बा' या 'मां' बोलना सिखाते हैं, तब वह अपने आरम्भिक प्रयत्नों के द्वारा तुतला कर 'अम्मां' या 'म्मां' आदि अस्पष्ट या अपभ्रंश ध्वनिसमूहों या शब्दों का उच्चारण करता है। परन्तु अर्थ पहचानने वाले या बालक की प्रकृति को जानने वाले उसके द्वारा कहे हुए वास्तविक अभिधेय को समझ ही लेते हैं। इसमें प्रक्रिया यह अन्तर्हित होती है कि अर्थ के अनुमान से पूर्व उस अपभ्रंश से सम्बद्ध 'साधु' शब्द का अनुमान होना आवश्यक होता है। ज्योंही ऐसा निश्चय हो जाता है, तभी उस साधु शब्द के अर्थ को ही उस अपभ्रंश शब्द का अर्थ मानकर वैसा निश्चय कर लिया जाता है। इस प्रकार अस्पष्ट शब्द भी स्पष्ट अर्थ की प्रतीति देता है (१५१)।

पर, यह अर्थ 'अपभ्रंश' का अपना न होकर 'साधु' शब्द का ही होता है। यह बात बालक और अशिक्षित पुरुष की भाषा पर समान रूप से लागू होती है (१५३)।

प्रसिद्धि की प्राप्ति—उक्त सभी बातें अपभ्रंश शब्दों के आरम्भ के विषय में तो लागू होती हैं, किन्तु इन्हें सार्वकालिक सत्य नही कहा जा सकता। जब पर्याप्त काल तक इनका प्रचलन जनगण में होता रहता है, तब ये भी प्रसिद्धि पा लेते है। आरम्भ में यह प्रयोगस्थिरता केवल अज्ञानी और संस्कारहीन वक्ताओं में ही पाई जाती है। किन्तु, कालान्तर में अन्य लोग भी इनका प्रयोग आरम्भ करते है। तब एक विशेष बात यह हो जाती है कि शब्द के द्वारा जिस भी अर्थ का वहन होता है, वही अर्थ यदि किसी मिलते-जुलते साधु शब्द से वहन भी किया जाता हो, तब भी उस अर्थ में साधु शब्द का प्रयोग होना बन्द हो जाता है। तब उस साधु शब्द का यौगिक या अन्य रूप मे अन्यत्र प्रयोग होने लगता है।

इस प्रकार परम्परा और प्रसिद्धि का सम्बन्ध अपभ्रंश शब्दों से भी हो जाता है, और साधु ही बन जाते है (१५४)।

चरम सत्य—इसलिए इस विषय में चरम सत्य यह है कि दोनों ही प्रकार के शब्द, अर्थात् अपभ्रंश और साधु शब्द, परम्परापुष्ट होने से नित्य हो जाते है। दूसरे शब्दों में, उनके प्रचलन के स्वतन्त्र आधार होते हैं। अत: जब ऐसे किसी भी शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द प्रयोग होता है, तब वह पहले शब्द द्वारा कथित अर्थ को वहन नहीं कर सकता। दोनों स्वतन्त्र अर्थवान् होते है। (१५६)।

(ङ) नित्य-अनित्य अथवा बुद्धिस्थ-श्रुत शब्द

[इस सम्बन्ध में भर्तृहरि के ४४ से ४७ श्लोक तक के वचन अवधेय हैं। टीका से देखें।]

(च) वर्ण, पद, वाक्य : एकत्व-नानात्व

[पठनीय :—'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' अध्याय-४, पृष्ठ ६३-७४ तक।
स्मर्त्तव्य :—इस काण्ड के ७० से ७६ तक श्लोक।]

इस सम्बन्ध में भर्तृहरि की निम्न उक्तियाँ अवधेय है :—

१. वर्ण, पद और वाक्य की उत्पत्ति बार-बार होती है (कार्य), या वह बुद्धिस्थ रूप में नित्य हैं (नित्य),—इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ लोग इन तीनों को 'एक' या 'अभिन्न' घोषित करते है, और कुछ लोग इनकी सत्ता पृथक्-पृथक् मानते हैं। पहले मत में इन्द्रीयनित्य ध्वनियों की बात आती है। अर्थात् प्रयोगिक दृष्टि से हर बार की अभिव्यक्ति को पृथक् उत्पत्ति मानना पड़ेगा।

दूसरी दृष्टि से हरबार का उच्चारण किसी पूर्वनिश्चित धारणा की ही पुनः-पुनः अभिव्यक्ति के रूप में होता है (७०)।

२. इस दूसरी धारणा के आधार पर बढ़ने से यह सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न पदों में एक ही वर्ण पुनः-पुनः उपलब्ध होता है और अनेक वाक्यों में एक ही पद पुनः-पुनः दृश्यमान होता है। अर्थात् बार-बार की यह उपस्थिति उनकी अनेकता और अनित्यता को न बताकर एकता और नित्यता को ही बताती है (७१)।

३. इसी को दूसरे शब्दों में यूं भी कहा जा सकता है कि वर्ण के बिना पद की सत्ता नहीं सिद्ध होती, और वर्णों एवं पदों के बिना वाक्य की सत्ता सिद्ध नहीं होती (७२)।

४. तो क्या ये सब अलग-अलग हैं, और इनका वैयक्तिक महत्त्व अवधेय है? भर्तृहरि का उत्तर स्पष्ट है। इनकी सत्ता को पृथक् मानना केवल प्रायोगिक सुविधा की दृष्टि से ही सत्य है। अन्यथा बुद्धिगत स्थिरता और वाक्-प्रयोग की दृष्टि से इनकी पृथक् सत्ता को स्वीकार करना तर्क के विपरीत बैठता है (७४)।

५. कारण यह है कि वाग्व्यापार का लक्ष्य अभिधेय की अभिव्यक्ति है। वाक् का ध्वनिरूप तो उसी अभिधेय को वहन करने का माध्यम मात्र है। इन्द्रियजन्य होने के कारण यह ध्वनि रूप विनष्ट होता भी देखा जा सकता है। जब यही ध्वनिरूप विनाश्य है, तब इससे उत्पन्न समझे जाने वाले वर्ण, पद, पद-समूह, आदि को नित्य और अविनाशी कैसे माना जा सकता है? (वा० २.३४७)।

६. वाक्य या अभिधेय ही सत्य है, और वही बुद्धि में नित्य रूप में स्थित है। अतः एकत्व की दृष्टि से उसी का एकत्व सम्भव है। जब वाक्य ही भाषा की इकाई है, अर्थात् जब अर्थ की दृष्टि से वही अविच्छेद्य है, तब वर्ण और पद की पृथक् सत्ता या अर्थवत्ता को स्वीकार करना न उचित है, न तर्कसंगत। यदि कहीं पद और वर्ण की वाक्य से भिन्न अर्थात्मक सत्ता मान ली गई, तब एक-एक वर्ण के अन्दर विद्यमान अनेकों वर्णभागों की भी पृथक् अर्थवती सत्ता माननी पड़ेगी। व्याकरण और ध्वनिशास्त्र में भले ही उन्हें पृथक् माना जाए, भाषाशास्त्र में उनकी पृथक् सत्ता नहीं है, न माननी ही चाहिए (७३)।

(छ) स्फोट ध्वनि और नाद

[स्मर्तव्य :—इस काण्ड के श्लोक सं० ४७-४९, ७५-८५, एवं ८६-१०२ तक।
पठनीय :—'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' अध्याय-३, पृ० ५० से ६० तक।]

इस सम्बन्ध में निम्न कथन अवधेय है :—

१. ध्वनियां इन्द्रियों से जन्म लेने वाले शब्द को ऐसा रूप देती हैं, जिसके द्वारा वह ग्राह्य हो जाता है (४७)।

२. ध्वनियों से उत्पन्न होने वाला नाद, ध्वनियों के क्रमजन्मा होने के कारण, क्रमजन्य है। इससे शब्द में वर्णादि की क्रमसवत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। वे अखण्ड और अक्रम रूप में ही अर्थाभिव्यक्ति देते हैं (४८)।

३. नाद, जल या तैल आदि प्रतिक्षेपण माध्यम के रूप में है, जिसमें से होकर शब्द अथवा द्रव्य का स्फोटात्मक प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है। प्रतिक्षेपण-माध्यम का प्रभाव या सम्बन्ध केवल प्रतिक्षेप को बहन करने मात्र तक है। उसके हिलने या विकृत होने से प्रतिबिम्ब के मूल आकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जहां तक आकार का प्रश्न है, प्रतिबिम्ब माध्यम का अनुकरण न करके अपने मूल द्रव्य का ही अनुकरण करता है। द्रव्य अखण्ड या अक्रम रूप में ही 'द्रव्यत्व' से युक्त रहता है। अतः उसका प्रतिबिम्ब भी अखण्ड और अक्रम रूप में ही रह सकता है। शब्द का प्रतिबिम्ब—स्फोट—अखण्ड और अक्रम ही रह सकता है। नाद की क्रमवत्ता का उस पर प्रभाव नही पड़ सकता (४९)।

४. केवल ध्वनिरूप में शब्द के आने और नाद रूप में ग्रहणमात्र से ही शब्द का श्रोता द्वारा 'ग्रहण' नहीं होता। ग्रहण के लिए आवश्यक है कि वक्ता और श्रोता उसे किसी न किसी विषय से सम्बद्ध करके देख सकें (५६)।

स्फोट और ध्वनि :

५. ध्वनिकाल से परवर्त्ती होकर भी उससे अभिन्न रहते हुए स्फोट की युगपत् प्रतीति होती है। वह अभिन्नकाल इस दृष्टि से होता है कि उसकी स्पष्टता क्रमशः या भागशः न होकर युगपत् और समवेत रूप में होती है। जो अर्थ बाद में कुछ समय तक स्पष्ट होता सा प्रतीत होता है, या जिसकी प्रतीति कुछ काल बाद होती प्रतीत होती है, वह वैकृत ध्वनिजन्य वृत्तिभेद के कारण होता है (७५)।

६. वर्णों के रूप में प्राकृत ध्वनियों के उद्भव में लगने वाला काल 'ध्वनि काल' या 'शब्दकाल' कहलाता है (७६)। इसे ही अन्यत्र 'स्वकाल' भी कहा गया है। जबकि वैकृतध्वनियां वृत्तिभेद को जन्म देती हैं, और उनका काल 'वृत्तिकाल' कहलाता है (१०१)। परन्तु यह 'वृत्तिकाल' स्फोट से अभिन्न रह कर ही उसके साथ ही साथ कुछ परवर्त्तीकाल तक चलता है। ये वैकृत ध्वनियां स्फोट के बाद ही आरम्भ होती हैं। (७७)।

७. शब्द छोटा हो या दीर्घ, उसका स्फोटकाल अभिन्न और समान ही होता है (१०३)। वृत्ति के रूप में जो अर्थविस्तार सा होता दीखता है, वह

बाद की बात है (१०३)।

ध्वनि : वाद—ध्वनि का वर्णन तीन रूप में किया जाता है।

—स्फोट रूप से अभिन्न रह कर,—अनुभूति से परे रह कर,—स्वतन्त्र रूप में।

ध्वनि के प्रभाव के सम्बन्ध में तीन मत हैं (७८-८०):—

१. इसका प्रभाव केवल उच्चारणेन्द्रिय तक सीमित रहता है, यथा अंजन आदि इन्द्रिय का संस्कार करते हैं।
२. इसका प्रभाव शब्द या विषय पर पड़ता है। यथा, विषय में गन्ध की उपलब्धि कराने की सामर्थ्य अधिक आ जाती है।
३. इसका प्रभाव दोनों पर पड़ता है। यथा—तेजस् के द्वारा चक्षुकी सामर्थ्य पर भी प्रभाव पड़ता है, और उज्ज्वलता या प्रकाश्यता भी प्रभावित होती है।

ध्वनि और स्फोट—प्राकृति ध्वनि स्फोट को जन्म देती है, और स्फोट वैकृत ध्वनि को जन्म देता है। वैकृत ध्वनि मे प्रतीत होने वाली भागवत्ता ध्वनि की क्रमवता के कारण है (९२)। स्फोट को 'जाति' कहा जा सकता है, जिसमें अनेक अर्थव्यक्तियां मिली-जुली रहती हैं। ये व्यक्तियां ही वैकृत ध्वनि के रूप में स्पष्ट होती हैं (९३)। शब्द स्वत: अविकृत रहता है। परन्तु प्रायोगिक निमित्त की भिन्नता के कारण विकृत (वैकृत) ध्वनि उस शब्द की स्फोटोत्तर उपलब्धि को सुलभ कराने में प्रकाश या दीप का कार्य करती है (९४)।

स्फोट और नाद—ध्वनियों द्वारा उत्पन्न नाद वह माध्यम है जिसके द्वारा स्फोट का ग्रहण सम्भव हो पाता है। अत: नाद और स्फोट का सम्बन्ध ग्रहण करानेवाले और ग्राह्यविषय के रूप में क्रमश: है (९७)। वैकृत ध्वनियों से जो नाद उत्पन्न होते हैं, वही वृत्ति की विशिष्टता को स्पष्ट करते हैं (१०५)। ये वैकृत ध्वनियां एक से दूसरी के क्रम से अनवरत उत्पन्न होती रहती हैं (१०६)।

(ज) शब्द और अर्थ

[स्मर्त्तव्य—५० से ६१, ६२-६५, ६६-६९, ८६-१०४, तथा १२९-१३० श्लोक।

पठनीय—देखें 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' के अध्याय ७, ९, १०, एवं अध्याय

८ का अन्तिम अनुच्छेद सं० १३४, एवं अध्याय ११ के अनुच्छेद १६७ से १७१ तक।]

(झ) विषय विभाजन

शब्द ब्रह्म—प्रथम से ग्यारह तक, १९ से २२ तक, ११८ से १२८, १३१-१३२।

व्याकरण—११ से १८ तक, ३०-४३, हेतु और प्रयोजन : १४२-१४७।

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः—२३ से २६।

साधु-असाधु—२७-२९। १३४ से १४१। १४८ से १५६।

नित्य-कार्य—४४-४७।

ध्वनि स्फोट और नाद—४७-४९। ७५ से ८५ तक। अर्थ ग्रहण में भागवत्ता : ८६ से १०६ तक।

शब्द का स्वरूप=शब्दब्रह्म। ५०-५२; ५४।

शब्द : माध्यम—५३। तीन वाद : १०७ से ११७।

शब्द और अर्थ—५०, ५५ से ६१ तक। मुख्यार्थ=१२९-१३०।
गौणार्थ=६२-६५।
संज्ञार्थ=६६ से ६९ तक। व्यक्ति-जाति।

वर्ण, पद, वाक्य—एकत्व-नानात्व=७० से ७४ तक।